गीदड़ का शिकार



गीदड़ का शिकार

Gidad Kā Shikār.

मिर्ज़ा अज़ीमबेग चग़ताई

Azim Beg Chugtai.

कि ता ब म ह ल

इलाहाबाद

प्रकाशकः—किताब महल, इलाहाबाद
मुद्रकः—पं० मगनकृष्ण दीक्षित, एम० ए०,
जगत प्रेस, इलाहाबाद

सूचना

हम स्वर्गीय अज़ीमबेग चग़ताई साहब की कुछ कहानियों का संग्रह हिन्दी जनता के सामने रख रहे हैं। थोड़े बहुत अनुवाद जो पुस्तक रूप में मिलते हैं उनमें अनुवादक ने यही कोशिश की है कि ज्यादा उर्दू शब्दों का हिन्दा अनुवाद कर दिया जाय। ऐसा करने से लेख की (Spirit) मारी जाती है। इन कहानियों में इसका बहुत ध्यान रक्खा गया है। चग़ताई साहब के आगामी अनुवादों में हम और भी ध्यान रक्खेंगे।

अनुवाद को और भी अच्छा बनाने के लिये जो विचार प्रकट करेंगे उनके हम बहुत आभारी होंगे।

प्रकाशक

सूची

गीदड़ का शिकार

[१]

एक दिन की बात है कि सलाह हुई बतख़ के शिकार को चलें। आख़िरी सर्दी का मौसम था और 'जाती फ़सिल' की चीज़ समझ कर और भी अधिक इच्छा हुई। बतख़ का शिकार वैसे भी बहुत मनोरंजक होता है। और फिर राजपूताने में, जहाँ इकट्ठा पानी सिवाय घड़े के और कहीं देखने को कम मिलता है, इतना पानी देखना कि उसमें बतख़ें तैरती हों और उनका शिकार! पर सवाल यह था कि ऐसी झील मिले कहाँ! पूरे एक दिन और एक रात के रास्ते पर एक झील पसंद की गई। सवारी के लिए ऊँट या बैलगाड़ी। लम्बे-चौड़े रेगिस्तान को चीर कर जाना बैल-गाड़ियों पर कुछ ठीक नहीं बनता। अतएव यह तय हुआ कि दो ऊँट अच्छी बहती हुई चाल के लिए जायँ।

[२]

इस योजना को एक दिन सचमुच कार्यान्वित किया गया। रेल पर एक स्टेशन सफ़र करके उतर पड़े और वहाँ से ऊँटों पर बैठ कर रवाना हुए।

शाम को चार बजे के क़रीब हम गाँव में पहुँच गए, जहाँ गाँव के ज़मींदार साहब हमारा पहिले ही से इन्तज़ार कर रहे थे।

पर यहाँ पहुँचते ही एक और मामला पेश आया। वह यह कि गाँव के क़रीब पौन मील के फ़ासले पर एक तेंदुए ने एक [redacted] के बच्चे को मार कर खा लिया था और यहाँ गाँव के शिकारी यह सोच रहे थे कि क्यों न तेंदुए का शिकार कर लिया जाय? मैंने तुरन्त तेंदुए के शिकार का समर्थन किया। अन्त में सब ने एकमत होकर मौक़े पर चलने का निश्चय किया।

[३]

हम जिस जगह पहुँचे उसके दाहिनी ओर सूखी पहाड़ियों का सिल-सिला था, जो ज़रा आगे जाकर सामने दीवार की तरह आ गया था। ढलवाँ पहाड़ी नीचे मैदान तक चली गई थी। सामने [redacted] के बच्चे की आधी लाश पड़ी हुई थी।

अब यहाँ सवाल यह था कि हम अपना बैठने का स्थान कहाँ चुनें। पेड़ का नाम भी नहीं था जिस पर मचान बाँधते। अन्त में एक बढ़िया उपाय सूझ गया।

मास्टर साहब के स्कूल में तीन ब्लैक-बोर्ड अच्छी हालत में थे और एक—एक टूटा हुआ था। यह सोचा गया कि इन चारों ब्लैक-बोर्डों को चारों ओर दीवार की तरह खड़ा कर दिया जाय और हर तरफ़ ख़ाली जगह में काँटे और झाड़ियाँ जमा करके टट्टी-सी बना दी जाय। अन्दर सब छिप कर बैठ रहेंगे। यह प्रस्ताव सब ने स्वीकार किया।

शीघ्र ही दोनों ऊँटों पर चारों ब्लैक-बोर्ड लद कर आ गए। [redacted] के बच्चे की लाश से कोई पचीस-तीस गज़ के फ़ासले पर खुले मैदान में, किन्तु पहाड़ी की छाया में ब्लैक-बोर्ड खड़े करके सुरक्षित स्थान बना लिया गया। तख़्ते के निचले खुले हुए भाग को हमने मोटी-मोटी शाख़ों तथा काँटों और इधर-उधर से पत्थरों से भली-भाँति ढक दिया और उसे सचमुच सुदृढ़-सा क़िला बना लिया। ख़ाँ साहब उसकी तैयारी ही में थे कि मैं गाँव वापस लौट गया ताकि भोजन आदि से छुट्टी पाकर शीघ्र ही तैयार हो जाऊँ। मेरे आने के थोड़ी देर बाद ख़ाँ साहब और मास्टर साहब भी लौट आए और यह निश्चय हुआ कि खाना खाकर जल्दी से तैयार होकर चलें।

[४]

अब हमारी तैयारी बस देखने योग्य थी। मुझे गोली के कारतूस की चिंता हुई। ख़ाँ साहब ने ज़मीन में छोटा-सा गड्ढा खोद कर सीसा पिघला कर दो गोलियाँ बनाईं। उनको छील कर और घिस कर मेरे कारतूस के लिए ठीक किया गया। स्वयं ख़ाँ साहब के पास और मास्टर साहब के पास "ठूसम ठाँस" वाली अर्थात् टोपीदार बन्दूक़ें थीं। मास्टर साहब के पास दो नली वाली बन्दूक़ थी; ख़ाँ साहब की बन्दूक़ एकनली की थी।

ख़ाँ साहब ने अपनी बन्दूक़ में बहुत-सी बारूद भर कर उसमें गोली डाली। गोली इतनी कसी हुई थी कि उसको ख़ास ढङ्ग से डाल कर पत्थर से ठोंका गया तब कहीं अन्दर अपनी जगह पर पहुँची। सारांश यह कि हम तीन आदमी कोई रात को आठ बजे शिकार के लिए चले। मेरे साथी ऐसे

थके हुए थे कि उन्होंने सोने की ठहराई। हम तीनों आदमी बड़ी सावधानी और शान्ति के साथ मौक़े पर पहुँचे। रात अँधियारी थी। हम तीनों टटोल-टटोल कर अपने क़िले में घुसे। और अब प्रवेश के बाद मुझे पता चला और होश आया कि इस अँधकार में शिकार कैसे सम्भव होगा और यह कि यदि सर्दी अधिक पड़ी तब क्या करेंगे! मूर्खता तो देखिए कि बिछाने तक को कोई चीज़ न लाए थे। थोड़ी देर विभिन्न प्रकार से उकड़ूँ बैठने की चेष्टा करते और फिर पसर कर बैठ रहे। अँधेरा काफ़ी था और ख़ाँ साहब ने अब अपनी बन्दूक़ तथा लकड़ी की सहायता से झाड़ियाँ हटा कर देखने और बन्दूक़ चलाने के लिए छेद किया, बल्कि यों कहिए कि अच्छी ख़ासी खिड़की निकाल ली। हम तीनों ने बाहर झाँक कर देखा तो मालूम हुआ कि यद्यपि अँधेरा है पर शेर साफ़ दिखाई देगा और शिकार करना सम्भव है। ख़ाँ साहब ने बोलने को एकदम मना कर दिया, किन्तु स्वयं उन्होंने अपने शेर के झूठे क़िस्सों का ताँता बाँध दिया। वह भी इस तरह कि यदि हम सन्देह करें, या आपत्ति करें तो तुरन्त कहते—"बोलो मत, चुप रहो चुप। शेर का शिकार है।" मतलब यह है कि सुने जाओ।

सारांश यह कि जब सर्दी और बेचैनी तथा नींद और थकावट ने निढाल कर दिया और जी में यही आया कि जिस तरह भी बन पड़े पड़ रहें और रात आधी होकर ढलने को हुई तो कमबख़्त तेंदुआ गया।

[५]

ख़ुदा की पनाह। हम पहाड़ी की छाया में थे। तेंदुए ने पहाड़ी के ऊपर ग़ुर्राना शुरू कर दिया। बस सचमुच यही मालूम हुआ कि हमारे सिर पर बोल रहा है। ऐसा कि यदि ऊपर से फाँदा तो बीचों-बीच में आकर गिरेगा। यद्यपि तेंदुआ हम से दूर था। ग़ुर्राहट को एक झटका-सा लगा और तेंदुआ सचमुच छलाँग मार कर नीचे गिरा और गिरते ही जान पड़ा मानो एक से दो हो गए। दोनों बड़ी ज़ोर से ग़ुर्राये। वास्तव में ऐसा जान पड़ता है कि एक शायद पहिले ही किसी तरफ़ से रेंग कर आ चुका था।

ख़ाँ साहब ने जल्दी से अपनी बन्दूक़ सँभाली। ज़रा सोचिए तो कि उस समय मुझे यह पता चला कि ख़ाँ साहब के हाथ में कँपकँपी भी है।

उनकी बन्दूक़ की नाल खिड़की के सामने हिल नहीं रही थी, बल्कि इस प्रकार मँडला रही थी कि खिड़की से गोली का निकल जाना कठिन प्रतीत होता था। मैंने भी खिड़की से झाँक कर देखा और मुझे ज्ञात हुआ कि कम से कम मेरे लिए तो इस अँधेरे में निशाना लगाना कठिन ही नहीं असम्भव है। दो तेंदुए लाश के पास बैठे थे और उनके खाने का "चपड़-चपड़" शब्द सुनाई पड़ रहा था। जैसे कोई बड़े कुत्ते खाते हों। वह गुर्राते भी जाते थे। हमारे निवास-स्थान के सामने ही यह सब कार्यवाही हो रही थी और वह भी इतने निकट कि सचमुच मानो हमारी छाती पर कोदो दली जा रही थी।

हम तीनों ने पारी-पारी बन्दूक़ उठाईं, निशाने साधे पर फ़ैर न किया। कम से कम मैंने तो इस वजह से न किया कि यदि निशाना ठीक न बैठा तब क्या होगा? ज़रा सोचिए कि बीस-पचीस गज़ के फ़ासले पर दो तेंदुए बैठे डकार रहे हैं। अतएव मैंने अँधेरे के कारण निशाना ठीक न सधने की आपत्ति के साथ फ़ैर करने से इनकार कर दिया। मास्टर साहब पढ़ाई का सारा गुर भूल गए। यद्यपि उनकी निगाह कमज़ोर न थी पर चूँकि वह मुझसे कहीं अधिक चतुर थे अतः उन्हें भी तेंदुए न दिखाई दिए। फिर भला वह मारते कहाँ से। रह गए ख़ाँ साहब, तो वे फ़ैर किए दे रहे थे। अब इस बीच में तेंदुए दौड़-धूप में भी लग गए। एक-दूसरे के पीछे दौड़ते-खेलते गुर्राते इधर भी चले आते। इस प्रकार कि भय से हम लोगों के रोंगटे खड़े हो जाते। अब ख़ाँ साहब ने हम लोगों को मौक़ा देने के बाद अपनी बन्दूक़ सँभाली और ठीक उस मौक़े पर जब तेंदुए गुर्राकर एक-दूसरे से लिपट रहे थे फ़ैर कर दिया। बन्दूक़ की भयानक आवाज़ पहाड़ियों में दूर तक गूँजती चली गई, और हमारा भाग्य देखिए कि तेंदुए उछल कर शान्त होकर पहिले तो बैठ गए किन्तु फिर आवाज़ को शायद दूसरी ओर से आई हुई समझ कर उलटा हमारी ही ओर बढ़ आए। और एक मिनट भी न बीता होगा कि न केवल दोनों तेंदुए फिर दौड़ने और खेलने में लग गए बल्कि एक तीसरा भी आ गया। यह अब आया या पहले, यह नहीं कह सकते पर देखने में कमबख़्त अभी आया। अब ज़रा यह सोचिए कि उधर

तो कमबख्त तेंदुए अपने खेल में गुर्राते लुढ़कते हमारे क़िले के बीस क़दम तक आ जाते हैं और ख़ाँ साहब हैं कि अपनी ठूँसम-ठाँस में दूसरी गोली ठोंकने को उपयुक्त पत्थर ढूढ़ने को कह रहे हैं। हम दोनों ने निश्चय कर लिया था कि कुछ भी हो पर इस बुड्ढे ख़ाँ साहब को बन्दूक़ न चलाने देंगे। पर वह भला मानने वाले थे! गोली डालकर किसी न किसी तरह ठोंक ही दी। पर कुशल हुई कि आधी नाल में जाकर वह ऐसी अड़ी कि किसी तरह आगे बढ़ाए न बढ़ी। दुष्ट तेंदुए खेलते और गुर्राते हुए हमारे क़िले के बिलकुल पास आ जाते और एक बार तो एक तेंदुए ने कोई पन्द्रह-बीस क़दम पर खड़े होकर ज़मीन को इस प्रकार सूँघना शुरू किया कि सचमुच मेरी भीतर की साँस भीतर और बाहर की बाहर। बस यही जान पड़ा कि अब आता है इस ओर। यद्यपि यह इतमीनान था कि यदि हम पर आक्रमण हुआ तो बन्दूकें मौजूद हैं। पर जनाब हम ठहरे शान्तिप्रिय आदमी, झगड़े-रगड़े से दूर ही रहना चाहते थे।

[६]

वर्तमान परिस्थिति हद से ज़्यादा कष्टप्रद और संकटमय थी और सचमुच बिलकुल भय की आरी से चीरे जाने का आनन्द आ रहा था।

परिस्थिति की गम्भीरता प्रतिक्षण बढ़ती ही जा रही थी। तब एक तेंदुआ सचमुच हमारे सामने वाले ब्लेक-बोर्ड के नीचे की झाड़ियों आदि को खड़खड़ करके कुरेदता मालूम हुआ। उस समय हमें अपने प्राणों की ओर से एकदम निराशा हो गई। और मज़ा यह कि कमबख्त दिखाई भी नहीं पड़ रहा था। ऐसा प्रतीत होता था कि धीरे-धीरे डालियाँ और पत्थर हटा रहा था। इस कार्यवाही के शुरू होने के साथ ही दोनों तेंदुए ग़ायब से हो गये। एक तो सामने टेकरी पर ख़ाँ साहब ने बैठा देख लिया पर दूसरा न दिखाई पड़ा।

इतने में फिर पत्थर हटाने और डालियाँ तोड़ने की कार्यवाही शुरू हुई और फिर रुक गई। यहाँ हम लोग यह सोचने लगे कि क्यों न पीछे की ओर से काँटे आदि हटाकर हम स्वयं भाग जायँ। अब यह आशंका भी थी कि रास्ता बनाने में कहीं ब्लेक-बोर्ड ही न सिर पर आ रहे। इधर हम यह कार्यवाही कर रहे थे और उधर दूसरी ओर तेंदुए ने सचमुच हमारे क़िले को

झाड़ियाँ तथा पत्थर खोदना शुरू कर दिया। उसके पंजों तथा झाड़ियों के सरकने की आवाज़ मानो कान में घुसी जाती थी। अब ख़ाँ साहब के होश भी जाते रहे। इधर हमने देखा कि तेंदुआ सामने से घुसा आता है तो अपनी कार्यवाही तेज़ की। उधर ख़ाँ साहब ने भय-मिश्रित स्वर में साँप की-सी फुसकार मार कर कहा—"अरे वह···" घूम कर झुक कर जो मैंने और मास्टर साहब ने देखा तो अँधेरे में सचमुच दो आँखें चमक रही थीं। "वह आ गया···!" ख़ाँ साहब ने घबरा कर कहा—"अरे···बन्दूक······अरे···रे···" मैंने अपनी बन्दूक न दी। स्वयं सँभल गया। मामला नाज़ुक था। झाड़ियों की खड़खड़ाहट में उधर वह बढ़ रहा था। इधर हम जो निकलने का रास्ता कर रहे थे तो ब्लैक-बोर्ड की पत्थर की टाँग ग़ायब। अब मास्टर साहब ब्लैक-बोर्ड को रोकते हुए बोले—"अरे गिरा···अरे रोको····रोको····" और उधर यह हाल कि ख़ाँ साहब की छाती ही पर जब तेंदुआ चढ़ा आ रहा था तो वे क्या करते ? उन्होंने अपनी गज़ फँसी बन्दूक जैसे भी थी वैसे ही एक नारे के साथ दाग दी। और उछले जो वे तो मैं भी जान पर खेल कर भागा। मास्टर भी बोर्ड को छोड़-छाड़ भागा। इधर बन्दूक का धमाका, हमारी भयानक चीख़ें और बोर्ड का गिरना। फाँद-फूँदकर मैं और मास्टर दोनों जो भागे हैं अँधेरे में सिर पर पाँव रखकर तो गिरते-पड़ते भागाभाग बिना घूमकर देखे हुए ऐसे भागे कि गाँव के किनारे आकर दम लिया। होश उड़े हुए थे। देखते जो हैं तो ख़ाँ साहब नदारद। मैंने मास्टर से और मास्टर ने मुझसे ख़ाँ साहब को पूछा। मालूम हुआ कि वे रह गए। लोगों को आवाज़ दी। दो-एक आदमी आये और हम सब ज़मींदार साहब के यहाँ पहुँचे। यह समाचार सुनते ही सब के पैरों तले से ज़मीन निकल गई। सुबह हो ही रही थी। कोई पचास आदमी लट्ठ लेकर एकत्र हो गए और तुरन्त ख़ाँ साहब की खोज में बड़ी तेज़ी से रवाना हुए।

[७]

मौक़े पर पहुँचे। दूर ही से पहिले ग़ौर से देखा। पौ फट रही थी। तेंदुए का कहीं नाम नहीं था। हाँ हमारा ब्लैक-बोर्डों का क़िला गिर पड़ा था। पास जाने पर विचित्र दृश्य दिखाई पड़ा। ख़ाँ साहब पहिले तो दिखाई

न पड़े। फिर जो देखा तो टूटे हुए ब्लैक-बोर्ड और झाड़ियों के नीचे बड़े ही सुरक्षित ढंग से दबे हुए सचमुच गहरी निद्रा में मग्न थे। बन्दूक़ पास ही पड़ी थी और झाड़ी के निकट एक खजीला गीदड़ पड़ा हुआ था। देखने से पता चला कि गीदड़ के सिर में गोली लगी है। ख़ाँ साहब की बन्दूक़ की नाल फट गई थी। गज़ कुछ दूर पर पड़ा था। ख़ाँ साहब सचमुच जीवित थे और ब्लैक-बोर्ड हटाया गया तो गालियाँ बकते हुए उठ बैठे। वास्तव में बेहोश हो गए होंगे। और इसी के साथ ही साथ शायद नींद भी आ गई होगी। मालूम हुआ कि चोट वैसे तो सब जगह लगी पर कोई चोट उल्लेख के योग्य नहीं सिवाय एक नाक की चोट के। वह भी इस तरह कि ऐनक, जिसमें जगह-जगह गूदड़ बँधा था उसकी नाक पर की कमानी वहीं की वहीं नाक में धँस गई थी। ऐसा लगता था मानो किसी ने बड़े ही गोठिल और बिना धार के यंत्र से काटने की सर्वथा असफल चेष्टा की है।

ख़ैर। जो कुछ हुआ सो हुआ पर यह अब तक समझ में न आया कि तेंदुए का गीदड़ कैसे बन गया।

भाग गई

मुँशी फ़रासतअली ने एक ग़रीब घर में जन्म लिया, परन्तु अपनी मेहनत से धनवान बन गये। दूसरे भाई अहमदअली ने कुछ न किया। जो कमाया वह उड़ाया। हमेशा ग़रीब के ग़रीब रहे। ख़ुदा की क़ुदरत कि लड़का हुआ तो वह भी ऐसा ही हुआ। मुँशी फ़रासतअली का अपना परिवार बिलकुल छोटा था। एक बीबी, एक लड़की और ख़ुद। घर पर एक से दो होने के लिए अपने एक दूर के सम्बन्धी के लड़के को, जो अनाथ था, लड़की को क़ुरान और फ़ारसी पढ़ाने को रख लिया था।

आयशा पर ख़ुदा ने साल-भर के अन्दर ही ऐसी मुसीबत डाली कि किसी पर न पड़े। माँ बीमार पड़ी और दस दिन में चल बसी। तीन-चार महीने बाद मुँशी फ़रासतअली की पुरानी शिकायत अर्थात् दमा की बीमारी ने ऐसा ज़ोर बाँधा कि ज्यों-ज्यों दवा दी गई त्यों-त्यों मरज़ बढ़ता ही गया।

चार-पाँच महीने में वह भी गुज़र गए। जायदाद वग़ैरः जो कुछ भी था वह भाई और लड़की के हिस्से में आयी। लड़की का संरक्षक अब सिवाय चाचा के और कोई न था। चाचा के घर पर पहुँचकर उसने और ही रङ्ग देखा। चाचा का लड़का जवान था। तहसील में चपरासी था। मगर हाल यह था कि कुछ समय से बेकार था, क्योंकि वहाँ से बरख़ास्त हो चुका था। बीबी को मार-मारकर वह बुरा हाल किया कि बेचारी अपने बाप के घर चली गई।

जब कभी आती, अकारण पीटी जाती। शराब की भी आदत थी और प्रायः रात के ग्यारह-बारह बजे से पहले घर में न आता था। बाप बेचार ख़ुद परेशान था कि क्या करूँ। एकलौता बेटा था। बेचारा जो कुछ कमाकर लाता बीबी को दे देता। लड़के का यह हाल, कि माँ से सब कुछ ले लेता। गरज़ कि आयशा ने घर की वह दशा देखी, जो कभी सुनने में न आई थी। घर का काम करते-करते वह थक जाती थी, मगर फिर भी चाची नाराज़ ही रहतीं। जब से वह आई, उसको पैसा-कौड़ी कभी कुछ न मिला। बाप के समय के कपड़े फटने को आये, मगर चाचा और चाची ने कुछ भी ध्यान न दिया।

एक रोज़ रात के ग्यारह बजे जब वह सो रही थी, उसकी चाची ने उसको जागया और आवाज़ देकर कहा—"उठकर खाना दे दो।" वह समझ गई कि मियाँ फ़ारूक़अली आ पहुँचे। खाना लेकर गई, तो बेहद ख़फ़ा हुए कि ठण्ढा है। दौड़ी हुई बेचारी रसोई में गई। आग जलाई और उस शराबी के लिए खाना गरम किया। खाना गरम करके सामने रखा और पीने के लिए ठण्ढा पानी भी लाकर थाली के पास रख दिया। खाना कुछ अच्छा पका हुआ था और मियाँ फ़ारूक़ उस वक्त तरङ्ग में थे। कहने लगे—"आयशा, यह खाना किसने पकाया है?"

आयशा ने कहा—"मैंने ही पकाया है।"

फ़ारूक़ ने धीरे से कहा—"तब तो तुम बड़ी होशियार लड़की हो। मैं दूसरी शादी तुम्हारे साथ ही करूँगा।"

आयशा अब पन्द्रह वर्ष की हो चुकी थी। उसने इस प्रकार की बातें

भला कब सुनी थीं। एक सन्नाटे में आ गई। बदन से पसीना जारी हो गया। फ़ौरन वहाँ से सीधी अपने पलङ्ग पर पहुँची। रोते-रोते सो गई। सोते समय उसने एक भयङ्कर स्वप्न देखा कि एक बला उसकी ओर पञ्जा फैलाकर बढ़ रही है, उसकी आकृति मकड़ी की सी है, परन्तु शरीर हाथी की भाँति विशाल है और मुँह बिल्कुल फ़ारूक़ जैसा। डरकर नींद ही में वह ज़ोर से चीख़ पड़ी। चाची ने घबराकर पुकारा—"आयशा क्या है!" आयशा ने कहा—"कुछ नहीं। मैं ख़्वाब देख रही थी। इसीसे डर गई।"

आयशा को फ़ारूक़ की सूरत से नफ़रत हो गई थी। वह उससे इस तरह डरती थी जैसे क़साई से गाय।

रिश्तेदारी में एक मौत हो गई थी और आयशा की चाची को वहाँ जाना था। चाचा खाना खाकर कचहरी चले गए। चाची ने कहा—"मैं तुमको नहीं ले जा सकती, क्योंकि तुम्हारे पैर में न ठीक जूता है और न पहनने को ठीक कपड़े। तुम घर पर ही रहो। फ़ारूक़ आये, तो खाना खिला देना।"

यह सुनते ही आयशा का दम निकल गया। उसने दबी ज़बान से कुछ कहना चाहा, मगर चाची ने डपटकर कहा—"नहीं, मैं तुम्हें नहीं ले जाऊँगी।"

चाची के चले जाने के बाद आयशा की अजीब हालत थी। दरवाज़े की ओर आहट सुनती और सहम जाती, उसका डर के मारे बुरा हाल था। बारह बज गए और एक बजने को आया, मगर फ़ारूक़ का पता न था। वह बहुत ख़ुश थी कि फ़ारूक़ आज न आयेगा, क्योंकि अक्सर ऐसा भी होता था कि सुबह का गया हुआ बस रात के बारह बजे ही आता था। उसको कुछ हद तक विश्वास हो चला था, लेकिन फिर भी उसने खाना लाकर ढङ्ग से तख़्त पर रख दिया। पीने का पानी और गिलास भी पास रख दिया, ताकि अगर वह कहीं आ जाय तो सब चीज़ें मौजूद पाये और उसे (आयशा को) सामने न जाना पड़े।

दिल में आयशा ने कहा—"आज वह नहीं आयेगा।" उठी और हाथ-मुँह धोकर अपनी कोठरी में नमाज़ पढ़ने लगी। नमाज़ पढ़ते समय

उसको शक हुआ कि दरवाज़े पर कुछ आहट-सी हुई। किन्तु यह केवल भ्रम था। इन्तज़ार करने के बाद उसने फिर नमाज़ पढ़नी शुरू कर दी। वह नमाज़ पढ़ ही रही थी कि पीछे से फ़ारूक़ की आवाज़ आई—"कब तक नमाज़ पढ़ती रहोगी?" यह आवाज़ गोया एक मुसीबत थी। आयशा को नमाज़ पढ़ना मुश्किल हो गया। उसको ऐसा मालूम होता था कि बस अब किसी बला ने पीछे से पकड़ा। ज्यों-त्यों करके नमाज़ ख़त्म की। पीछे मुड़कर देखा तो फ़ारूक़ के चेहरे पर एक अजीब राक्षसी मुस्कराहट थी। आयशा ने दिल को मज़बूत किया और नरमी से कहा—"आपका खाना वहाँ तख़्त पर रखा है।"

फ़ारूक़ ने हँसकर कहा—"यह तो मैं भी जानता हूँ। मगर जब तक तुम ख़ुद पहुँच कर न खिलाओगी, मैं कैसे खाऊँगा?"

आयशा परेशान हो गई और सिटपिटा गई। वह फ़ारूक़ से कुछ न कह सकती थी। उसको ऐसा अनुमान हुआ कि यह डर से बेहोश होनेवाली है। वह कुछ कहने ही वाली थी, कि फ़ारूक़ ने फिर कहा—"तुम तो बड़ी अच्छी लड़की हो। ज़रा बाहर निकलो। कम से कम खाना तो गरम ही कर दो।"

आयशा चुपचाप कोठरी से निकली और दीवार से लगी लगी—ताकि फ़ारूक़ से काफ़ी फ़ासला रहे—बाहर निकल गई और खाना गरम कर लाई। फ़ारूक़ ने खाते समय फिर खाने की तारीफ़ करनी शुरू की, मगर आयशा दूर बैठी रही और उसका जवाब तो जवाब, मुँह तक मोड़ कर न देखा। खाना खाने के बाद फ़ारूक़ ने आवाज़ देकर कहा—"पान तो लाओ।"

आयशा ने कहा—"पान मैंने पहले ही बना कर रख दिया है।" फ़ारूक़ ने फिर शरारत से कहा—"यह तो मुझे भी मालूम है कि एक सूखा पान बना हुआ रखा है। मगर मैं तो ताज़ा पान खाऊँगा।"

आयशा पर फिर बिजली सी गिरी, मगर उठी और पान लगा कर लाई। बजाय फ़ारूक़ के हाथ में देने के उसने बाएँ हाथ से पान की तश्तरी उठानी चाही ताकि पान रखने के लिए उसको ज़्यादा न झुकना पड़े। एक-

दम से फ़ारूक़ ने बायाँ हाथ पकड़ लिया और मुँह फैला कर कहा—"पान मेरे मुँह में रख दो।"

आयशा ने पान वाला हाथ पीछे कर लिया और रोकर कहा—"छोड़ दीजिये।" उसकी अजीब हालत थी। मगर अब बजाय डर के उसे ग़ुस्सा आ रहा था। बहुत कुछ उसने ज़ोर लगाया मगर फ़ारूक़ के फ़ौलादी पञ्जे से छुटकारा नामुमकिन था। वह हँस-हँस कर कह रहा था, "देखें भी इस लड़की में कितना ज़ोर है।" यह कहना और भी फोड़े का काम था। लाचार होकर बेचारी ज़मीन पर बैठ गई और मुँह छिपा कर रोने लगी। पीछे से जो हाथ आगे आया तो पान बदस्तूर उसके हाथ में था। मुँह ढका हुआ था। फ़ारूक़ ने चुपके से मुँह बढ़ा कर पान दाँत से पकड़ लिया। एकदम आयशा ने घबरा कर पान को इस तरह छोड़ा जैसे कि कोई कीड़ा-मकोड़ा उठा लेता है और फिर घबरा कर छोड़ देता है। फ़ारूक़ ने पान को मुँह में सँभालते हुए कहा—"अच्छा अब मैं तुमको छोड़ देता हूँ मगर एक बात सुन लो।" आयशा सिसकियाँ लेकर रो रही थी और कुछ उत्तर न देती थी। बड़ी मुश्किल से आयशा ने आँखें चार कीं और रोकर कहा—आप मुझे क्यों परेशान करते हैं!"

फ़ारूक़ ने कहा—"तुम मेरी बात सुन लो। मैं तुमको छोड़े देता हूँ।" आयशा ने आँसू पोंछ साहस बटोर कर कहा—"कहिए! क्या कहते हैं!" फ़ारूक़ ने मुस्करा कर कहा—"तुम बताओ तो सही मैं कैसा हूँ। तुम मुझसे शादी करने पर रज़ामन्द हो!"

आयशा का सारा शरीर क्रोध से काँपने लगा। अब भागने के बजाय उसे और अधिक क्रोध आ रहा था। मुँह कोध से लाल हो गया। भर्राई हुई आवाज़ में उसने कहा—"आप मुझसे इस तरह की बातें क्यों करते हैं!"

फ़ारूक़ ने तुरन्त उत्तर दिया—"इसलिए कि अब माँ ने तै कर लिया है कि मेरी शादी तुम्हारे साथ हो जाय।" आयशा ने ज़ोर से हाथ को झटका दिया और छुड़ा कर भागी।

अपनी कोठरी की तरफ़ दौड़ी, मगर फ़ारूक़ भला उसको कब छोड़ने वाला था। "यह क्या बदतमोज़ी!" ग़ज़बनाक होकर फ़ारूक़ ने कहा—

तड़प कर वह उठा मगर चारपाई की रस्सी में पाँव उलझ जाने से मुँह के बल गिरा। इतने में आयशा अपनी कोठरी में थी और चाहती थी कि दर्वाज़ा बन्द करे कि फ़ारूक़ आ पहुँचा और दरवाज़े को ज़ोर से धक्का दिया। मगर आयशा में उस वक़्त बला की ताक़त आ गई थी। उसने भी ख़ूब ज़ोर लगाया। दर्वाज़ा खुला जाता था कि उसने एक ईंट का टुकड़ा उठा कर इस बेदर्दी से फ़ारूक़ की उँगलियों पर मारा कि वह तड़प गया। आयशा ने दर्वाज़ा बन्द कर लिया। फ़ारूक़ बाहर खड़ा हुआ बल खा रहा था। अब उसने गालियाँ देनी शुरू की और कहा—"इसका मज़ा शादी के बाद तुझको चखाऊँगा।" आयशा उसकी बदज़बानी सुन कर सहम गई, क्यों कि वह बिलकुल ऐसी गालियाँ दे रहा था जैसे वह अपनी बीबी को दिया करता था।

[२]

इस घटना के बाद आयशा को फ़ारूक़ ऐसी नज़रों से देखता था कि बस खा जायगा। उसकी उँगलियाँ दो महीने तक दुखा कीं और मरहम-पट्टी हुआ की, क्योंकि उँगली की हड्डी कुचल गई थी।

इस दौरान में आयशा को इस ख़बर की तस्दीक़ हुई जो उसने फ़ारूक़ की ज़बानी सुनी थी। एक दिन उसने अपनी कोठरी में से चाचा और चाची की बातें सुन लीं। चाचा को यह मरज़ी थी कि फ़ारूक़ के साथ आयशा की शादी जल्द कर दी जाय। इस तरह से गुज़रे हुए भाई की सारी जायदाद कब्ज़े में आ जायगी। यह भी तजवीज़ थी की पहली बीबी को फ़ारूक़ तलाक़ दे दे।

उस दिन से आयशा का बुरा हाल था। वह दिन-रात इसी चिन्ता में रहती थी कि आख़िर अब क्या होगा! एक चाचा और चाची के अतिरिक्त, उसका इस संसार में कोई न था। चाचा और चाची की बातों को सुन कर मालूम हुआ कि मामा को भी उसको इस शादी के सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं है। दिन और रात अब आयशा यही दुआएँ माँगती थी कि "या ख़ुदा! तू मुझे जल्द मौत दे।"

मौत की तो बात ही क्या, उसको छींक तक न आती थी। कुछ समय

से चाची का रुख़ भी बदला हुआ था। चाची अब बजाय सख़्ती के नरमी से बातें करती थीं। बात-बात पर चुमकारती थीं। कपड़े भी अब ढङ्ग के हो गए थे। मगर यहाँ आयशा की हालत ही अजीब थी। उसको चाची का वह सख़्त बर्ताव याद था और कहती थी कि—"काश, अब भी वही जारी रहता।" फटे और पुराने कपड़े मञ्ज़ूर थे, लेकिन अच्छे कपड़े इस शर्त पर क़तई नामञ्ज़ूर थे। आधी-आधी रात इसी उधेड़-बुन में गुज़र जाती थी कि ख़ुदा! आख़िर क्या होगा, और क्यों कर इस आने वाली मुसीबत से जान बचेगी!

मगर आने वाली मुसीबत तेज़ी से उसकी ओर बढ़ रही थी। वह वक़्त भी धीरे-धीरे क़रीब आगया कि उसको अपने ब्याह के कपड़े ख़ुद ही सीने पड़े। उठते-बैठते दिखावटी मोहब्बत में चाची के मुँह से जो शब्द निकल जाते थे, वह तीर होकर आयशा के लगते थे और अपनी कोठरी में जाकर वह घण्टों रोती थी। मगर यह सब व्यर्थ था। ब्याह की तैय्यारियाँ बराबर हो रही थीं। फ़ारूक़ ने पहली बीबी को तलाक़ भी दे दी थी। चाची उसको अब फ़ारूक़ के सामने भी नहीं आने देती थीं। मगर आयशा इससे ख़ुश न थी।

इसी बीच एक दिन ऐसा मौक़ा आ गया कि फ़ारूक़ को आयशा के साथ अकेले में बात करने का मौक़ा मिल गया। उस कीनावर शैतान ने दाँत पीस कर कहा, "अब मुझको तेरी शरारत का मज़ाच खाऊँगा। बजाय इसके कि आयशा ख़ामोश रहती उसने भी जल कर कहा, "वह दिन आने से पहले ही मैं इस दुनियाँ में न रहूँगी। मुझको तुम्हारी सूरत से नफ़रत है।" इससे आगे बात न हो सकी क्योंकि माँ के पैरों की आहट सुनकर फ़ारूक़ हट गया। आख़िर शादी की तारीख़ भी मुक़र्रर हो गई और दिन गिने जाने लगे। आयशा की न तो कोई सहेली थी और न हमजोली, और यह भी अच्छा ही हुआ। एक-एक दिन करके आख़िर समय बीता और वह दिन आया कि गाने-बजाने की आवाज़ ने घर को सर पर उठा लिया। सारा घर मेहमानों से भर गया। आयशा अपनी कोठरी में दुलहिन बनी बैठी थी। उसने चार दिन से कुछ भी न खाया था और दिन-रात रोया करती थी।

निकाह वाले दिन उसका अजीब हाल था। उसने एक पुड़िया में शीशा पीस कर रखा था कि खाकर प्राण तज दूँगी, मगर ऐन वक्त पर वह पुड़िया ऐसी खोई कि न मिली। उसकी आँखों में दुनिया अब अँधेरी थी। रात के ग्यारह या बारह बजे होंगे वह एकदम से उठी; कुछ लोगों को ग़ाफ़िल पाया और कुछ लोगों को लापरवाह। वह सीधे पाख़ाने में पहुँची और न जाने किस मुश्किल से दीवार पर चढ़ कर अपने को उस तरफ़ गिरा दिया। दीवार कुछ ऊँची न थी इसलिए उसके हलकी-सी चोट लगी। वह उठी और उसने चादर को सँभाल कर ओढ़ा। उसको पता था कि मोहल्ले में फलाँ तरफ़ कुआँ है। वह सीधी उसी ओर चली; मगर कुएँ पर आदमी थे। अब उसकी यह हालत थी कि क़दम न उठता था। मर्दों को दूर ही से देख कर सहमी जाती थी, क्योंकि वह जानती कि अगर पकड़ी गई तो क्या हश्र होगा। सामने से आते हुए मर्द से बचने के लिए वह एक गली में मुड़ी और सीधी चली गई। ख़ुश-क़िस्मती से एक मकान से एक बुढ़िया निकली और वह भी उसी तरफ़ चली, जिधर आयशा जा रही थी।

बुढ़िया ने यों ही पूछा—"बेटी, कहाँ जा रही हो?"

आयशा ने ज़रा घबरा कर कहा—"तुम कहाँ जा रही हो?"

बुढ़िया ने कहा—"बेटी, मैं तो खारीकुईं जा रही हूँ।" फ़ौरन ही आयशा को याद आया कि सद्दीक़हुसेन का मकान भी खारीकुईं पर है। यह सद्दीक़हुसेन वही लड़का था, जो आयशा को क़ुरान पढ़ाया करता था और जिसको अनाथ समझ कर आयशा के बाप ने अपने घर रख लिया था। आजकल उसने अपने मोहल्ले में एक मकतब खोल लिया था, जिसमें वह मोहल्ले के लड़कों को उर्दू, फ़ारसी वग़ैरह पढ़ाया करता था। आयशा को याद हो आया कि सद्दीक़ तो बहुत अच्छा लड़का था। शायद वह मेरी मदद करे। इस ख़याल के आते ही बग़ैर सोचे-समझे बुढ़िया से कह दिया—"मैं भी वहीं जा रही हूँ।"

बुढ़िया ने पूछा—"वहाँ कहाँ जा रही हो?" आयशा ने ज़रा रुकते हुए कहा—"क्या तुम मौलवी सद्दीक़ का घर जानती हो?" बुढ़िया ने

कहा—"हाँ, मैं जानती हूँ। उनके यहाँ तो कोई औरत ही नहीं है। वह अकेले हैं।"

आयशा ने कहा—"हाँ! वह अकेले हैं मगर वह मेरे रिश्तेदार हैं और मेरी माँ आज वहाँ गई हैं। तुम मुझको उनका मकान बता देना तो मुझे दिक़्क़त न होगी।"

[३]

आयशा थोड़ी देर तक तो दर्वाज़े की कुण्डी पकड़े खड़ी रही। गली में सन्नाटा था। उसने हिम्मत करके कुण्डी खटखटाई। थोड़ी देर की कोशिश के बाद एक मौलवी सूरत का नौजवान शख़्स एक चिराग़ लिए हुए आयशा की तरफ़ अजीब तरह देख रहा था।

"तुम कौन हो? तुम कौन हो!" उसने परेशान होकर आयशा से पूछा। मगर आयशा ने बजाय जवाब देने के, दर्वाज़े पर पैर रखा। सद्दीक़ एक तरफ़ को हो गया और चादर में लपटी हुई आयशा मकान के अन्दर दाख़िल हो गई। वह सीधी बरामदे में पहुँच कर चारपाई पर बैठ गई। मौलवी का अजीब हाल था। उसका मुँह खुला रह गया और जहाँ खड़ा था वहीं खड़ा रह गया। अब उसकी हिम्मत न पड़ती थी कि अन्दर आये। मगर आयशा ने आवाज़ देकर कहा—"आप अन्दर आ जाइये।" उसने अब भी नहीं पहचाना कि कौन है। पास आकर खम्भे की आड़ में वह खड़ा हो गया और उसने चिराग़ रख दिया। दोनों तरफ़ ख़ामोशी रही, लेकिन सद्दीक़ ने फिर पूछा—"तुम कौन हो! मुझको जल्द बताओ। मैं सख़्त परेशान हूँ।"

आयशा ने दबी ज़बान से कहा—"सद्दीक़! तुम मुझको भूल गये। मै बदनसीब आयशा हूँ।" "अरे! यह तुम हो!" यह कह कर सद्दीक़ फिर चुप रह गया। लेकिन बोला—"मगर आज तो···आख़िर यह बात क्या है! कुछ तो कहो।"

आयशा ने भर्राई हुई आवाज़ में कहा—"सद्दीक़! मैं तुम्हारे घर में पनाह लेने आई हूँ।" यह कह कर रो-रोकर उसने सारा क़िस्सा शुरू से आख़िर तक सुना डाला। सद्दीक़, बजाय इसके कि पनाह और इमदाद का

वादा करता, उसको नसीहत करने लगा। मगर आयशा की आहोज़ारी और परेशानी अब इस हद पर पहुँच गई थी कि अब वह हर मुसीबत के लिए तैयार थी। उसने अपने को सद्दीक़ के क़दमों पर डाल दिया और घबरा कर कहा—"मेरी मदद करो।" सद्दीक़ घबरा गया। उसको आयशा के बाप ने बेटे की तरह रखा था। उसकी आँखों से भी आँसू जारी हो गये और उसने आयशा से कहा—"मैं ग़रीब तुम्हारी किस तरह से मदद कर सकता हूँ; मगर मैं हर तरह तैयार हूँ।"

आयशा ने फिर हाथ जोड़कर कहा, "अच्छा जो तुम मेरी मदद पर तैयार हो तो मेरी मदद करो......मैं उम्र भर तुम्हारी ज़र-ख़रीद लौंडी की तरह ख़िदमत करूँगी। तुम ख़याल करोगे कि मैं बेहया हूँ, मगर मेरी बे-बसी और मुसीबत को......देखो! तुम मेरे साथ खेले हो। तुमने मुझको पढ़ाया है। तुम्हीं मुझको इस मुसीबत से बचाओ।"

सद्दीक़ कुछ कहने को था कि आयशा ने फिर ज़ोर देकर कहा—"कल नहीं, बल्कि अभी-अभी सुबह होने से पहले, नहीं तो मेरी जान की ख़ैर नहीं है।"

गरज़ कि सद्दीक़ के हाथ-पाँव जोड़ कर आशा ने 'हाँ' कहला कर ही छोड़ा। सद्दीक़ मोहल्ले के एक बुज़ुर्ग के पास गया। उनसे सब हाल कह दिया और उनकी सलाह पर अमल किया।

रात ही रात, बल्कि उसी वक्त, क़ाज़ी को बुला कर गवाहों की मौजूदगी में सद्दीक़ ने आयशा से निकाह कर लिया।

× × × ×

ज़ाहिर ही है कि आयशा के घर क्या न कुछ हुल्लड़ हुआ होगा! अजीब तहलका मचा! दूल्हा मियाँ, दूल्हा के बाप और तमाम दोस्त अहबाब व रिश्तेदार, सब के सब, परेशान और शरमिन्दा थे। एक अजीब ही मुआमला दरपेश था। नतीजा इसका, मुक़दमेबाज़ी हुई। फ़ैसला आयशा के हक़ में हुआ। उसके हिस्से की जायदाद उसको दिलाई गई। सद्दीक़ की क़िस्मत के दिन भी फिर गए। सौ, सवा सौ रुपया माहवार आमदनी की जायदाद

बीबी को मिली और चैन से ज़िन्दगी बसर होने लगी। हालाँकि आयशा ख़ुश थी, मगर दुनिया यही कहती थी, "बे-हया भाग गई!"

तमाम नातेदार, रिश्तेदार हमेशा के लिए छूट गए। कोई उसका रवादार नहीं, कि उसको अपने यहाँ बुलाए या उसके यहाँ जाय। वह अच्छी बीबी है, तो हुआ करे। उसकी वजह से ख़ानदान की नाक कट गई और इज़्ज़त ख़ाक में मिल गई। अब ख़ुद इन्साफ़ कीजिए और ग़ौर फ़रमाइए। यह नापाक जुम्ला 'बे-हया भाग गई' कहाँ तक दुरुस्त है!

पट्टी

पट्टियाँ एक तो वे होती हैं, जो चारपाइयों में लगाई जाती हैं, और एक वे जो सिपाहियों के पैरों पर बाँधी जाती हैं। फिर और भी अनेक प्रकार की पट्टियाँ होती हैं। किन्तु मेरा मतलब यहाँ उस पट्टी से है जो फोड़ा-फुंसी या इसी प्रकार की कोई मुसीबत आने पर डॉक्टरों के द्वारा बाँधी जाती हैं।

... ...

मेरी पत्नी की मिलनेवालियों में एक लेडी डॉक्टर थीं। मैं छुट्टियों में ससुराल जाने वाला था, और मिस रोमा ने मुझसे कह दिया था कि जिस दिन तुम जाओ, मुझसे ज़रूर मिल लेना। अतएव मैं सुबह-तड़के ही मिस साहिबा के बँगले पर पहुँचा।

इसके पहले कि मैं यह बताऊँ कि बँगले पर क्या हुआ, एक-दो बातें कुछ कुत्तों के विषय में भी कहना चाहता हूँ। वे छोटे-छोटे कुत्ते, जो सुन्दर कहे जाते हैं, और बँगलों के निवासी जिन्हें पालना परम धर्म समझते हैं, वे नालायक़ कुत्ते चाहे कटखने न हों, किन्तु इधर आपने बँगले में प्रवेश किया, और उधर वे सीधे आपके ऊपर! देखने में काट खाने के ही लिये, किन्तु वास्तव में आपको दौड़ा कर और गिरा कर चित करने के उद्देश्य से निकलते हैं। अतएव आप विश्वास करें कि यही हुआ। मिस रोमा के तीन छोटे-छोटे कुत्ते इस बुरी तरह मेरे ऊपर झपटे कि मेरे होश जाते रहे। गुलाब के एक कांटों-भरे पौधे पर मैंने इस प्रकार पांव रख दिया जैसे कोई रेशमी गद्दों पर

रखता है। यहाँ से फंस कर बदहवासी के साथ गमले फांदे। एक फांद गया, दो फांदे गया, तीसरे में ऐसा पैर लगा कि मुँह के बल गिरा, और साथ ही कुत्ते सिर पर! अब क्या बताऊँ जनाब, कि किस तरह फुर्ती से फिर उठा ही था कि कुत्तों ने ऐसी टांग ली कि एक कुत्ते पर पांव पड़ गया और अब की सड़क पर गिरा। वहां से घबरा कर सीधा उठ कर बरामदे में आया। कुत्ते पीछे-पीछे थे। चिक उठाने का समय कहां था। चिक सहित तोप के गोले की भांति ज़ोर से कमरे में घुसा। उधर से मिस साहिबा बदहवासी के साथ चिल्लाती आ रही थीं। मैं इस बुरी तरह मिस साहिबा से जा टकराया कि वह कुरसी पर चीख़ मार कर गिरीं। मैंने सहारा देकर जल्दी से उठाया। कुत्ते खड़े अब दुम हिला रहे थे! वही दुष्ट जो क्षण भर पहले मेरी जान लेने को तैयार थे।

... ...

जब ज़रा होश ठिकाने हुये, तो हम दोनों ने बातें करना शुरू कीं। मिस साहिबा ने अपनी सहेली से मिलने की इच्छा प्रकट की। कुछ और व्यर्थ की बातें कीं। इतने में उनकी दृष्टि मेरे हाथ पर पड़ गई, जो अँगूठे की जड़ के पास में सड़क पर गिरने के कारण रगड़ खाने से कुछ छिल गया था।

"ओह! यह क्या।" यह कह कर आपने उस साधारण से घाव का निरीक्षण करते हुये कहा—"मैं अभी इसे लोशन से धोकर 'ड्रेसिंग' किये देती हूँ।"

मैंने कहा—"अजी, रहने दीजिये! कोई बात भी हो।"

परेशान सी सूरत बनाकर मिस साहिबा ने कहा—"मिर्ज़ा साहब, यह मामूली बात नहीं, इसका फ़ौरन 'ड्रेसिङ्ग' करवाना चाहिये, नहीं तो कहीं..."

"नहीं तो कहीं...!" मैंने उनकी बात काटकर सवाल किया—"नहीं तो क्या?"

भवें चढ़ाकर, कुछ भयभीत सूरत बनाकर मिस साहिबा ने कहा—"टिट-निस।"

"टिट-निस।" यह मेरे लिये बिलकुल नया शब्द था। सहसा ख़याल आया कि यह शैक्सपियर की टटानिया के कहीं भाई-बन्द तो नहीं। अतएव

मैंने विवरण पूछा। पता चला कि यह एक रोग है, ज़हरबाद की भाँति। सड़क की साधारण रगड़ से सम्भव है कि ख़राश में ज़रा-सी जलन हो और रात ही रात में सूज जाय और सुबह होते-होते ज़हर फैल जाय और फिर···

मैं कुछ सिहर-सा गया। उस भयानक रोग के भयानक परिणाम की कल्पना करता जाता था और मिस रोमा की कोमल अँगुलियों से पट्टी बँधवाता जाता था। बँगले से जब निकला हूँ, तो मेरी हुलिया यह थी कि गले में एक झूला पड़ा हुआ था और उसमें जकड़-बन्द किया हुआ हाथ था। कुशल हुई कि ताँगे पर आया था, कहीं साइकिल पर आता तो और भी कठिनाई होती।

··· ··· ···

मार्ग में एक जान-पहिचानवाले मिले। सलाम के साथ ही उन्होंने ताँगा रुकवाया।

"अरे म्याँ, यह क्या! ख़ैरियत तो है!" उन्होंने सवाल किया।

मैंने इसके उत्तर में क़िस्सा सुनाया कि जनाब, सड़क पर रगड़ लग गई और इस डर से कि कहीं टेटनिस न हो जाय, यह कार्यवाही की गई है।

"लाहौल विला कुवत!" उन्होंने ज़ोर से ठहाका लगाया, और टेटनिस की सम्भावना पर धिक्कार भेजी, ख़ूब हँसे और बोले—"पट्टी खोल-खाल के फेंको और उसकी जगह सेंदूर और तेल रगड़ कर लगा लो।"

इसके बाद एक साहब और मिले। उन्होंने भी ताँगा रुकवाया। वही बातचीत। और उन्होंने भी टेटनिस पर धिक्कार भेजी, ख़ूब हँसे और मज़ाक़ उड़ाया। कहने लगे—"टूटे हुये घड़े की मिट्टी रगड़ कर नीम की छाल के साथ लगा लो।"

सारांश यह कि रास्ते में चार आदमी और मिले। सब के सब टेटनिस को बुरा-भला कहते, और मुझ पर हँसते। किसी ने काली मिर्चें बताईं, किसी ने सन्दल बताया, किसी ने कहा कि कुछ बाँधने-बूँधने की कोई ज़रूरत नहीं, यों ही सूख जायगा।

घर पहुँचा तो पिताजी ने पट्टी बाँधने का कारण और विवरण पूछा।

माताजी ने पूछा; भाई बहिनों ने पूछा। गरज़, सब को हाल बताना पड़ा। फिर नौकरों की पारी आई। घर की बूढ़ी नौकरानी ने हमदर्दी से सुनी-सुनाई बात की तफ़सील पूछी कि—"बेटा, यह "टिन टस" क्या है जो तुम्हारे दुश्मनों को होने का डर है। बड़ी बी ने जब लड़कों से सुना था तो टेटनिस को शायद तरकारी की क़िस्म की कोई चीज़ समझी थीं। जिस प्रकार हो सका, मैंने उनको भी समझाया।

इतने में बाहर एक मिलने वाले आ गये। उनसे किसी ने सुनी-सुनाई उड़ा दी थी। बहुत परेशान थे। उन्होंने हमदर्दी ज़ाहिर करते हुये विवरण पूछा; जो बताना पड़ा। वह चले गये, और ख़रबूज़ेवाला आया। वह नित्य का आने वाला था। बिना पूछे कैसे रह जाता। मैंने कह कर टालना चाहा कि चोट लग गई है कि एक नौकर बोल उठा—" 'टेंटिस' हो गया है।"

इधर मैंने लौंडे की ओर घूर कर देखा, उधर ख़रबूज़ेवाला चकराकर बोला—"मियाँ, यह "टेंटिस" क्या? क्या कोई फुड़िया का नाम डाक्टरों ने रक्खा है।"

मैंने जल कर कहा—"बेहूदा मत बको!"

इससे छुट्टी पाई थी कि अन्दर गया, तो देखा कि माताजी दो-चार औरतों के सामने टेटनिस पर लेक्चर दे रही हैं। मैं पहुँचा तो मुझसे प्रार्थना की गई कि कुछ रोशनी डालूँ। अब मैं तंग आ गया था और टेटनिस के नाम से मुझे क्रोध आता था। जैसे-जैसे करके बला टाली।

... ...

शाम को चार बजे की गाड़ी से रवाना होनेवाला था। इस बीच में लोगों ने मेरी बोलती बन्द कर दी। अब मैं सिर्फ़ यह कह कर टालना चाहता था कि चोट लग गई है। पर जनाब, पूछनेवाला बिना टेटनिस की बातचीत के काहे को मानता! वह तुरन्त कहता कि अमुक सज्जन से सुना। वह बताते थे कि टेटनिस होने की आशंका है। लाचार हो जिस प्रकार बन पड़ता, जान छुड़ाता।

ताँगा आया। असबाब लादा, तो टाँगेवाले ने भी पूछा कि—"मियाँ, हाथ में पट्टी कैसी है।" मैं झल्ला कर रह गया। स्टेशन पर तो मेरा नाक

में दम आ गया। बहुतों को यह कह कर टाला कि चोट लग गई है, और बहुतों को कुछ मजबूर होकर टेटनिस का हाल बताना पड़ा।

गाड़ी छूटने के पहले ही एक साहब से इसी सिलसिले में झड़प हो गई।

"अरे मियाँ, यह हाथ में पट्टी कैसी है?" उन्होंने पूछा।

"मामूली चोट लग गई है।"

"कैसे लग गई?"

"सड़क पर गिर पड़ा था, चोट आ गई।"

"फिर कोई बात तो नहीं?"

"कोई बात नहीं।"

"मगर हमीद साहब मिले थे। वह कहते थे कि ख़ुदानाख़्वास्ता टेटनिस हो जाने का डर है। यह टेटनिस क्या होता है?"

अब मुझे ऐसा ग़ुस्सा आया कि मन में आया कि मुँह नोच लूँ; क्योंकि वह मुझे सिर्फ़ तंग कर रहे थे। पहले तो आप सोचें कि उन्होंने शुरू से आख़िर तक व्यर्थ ही विवरण पूछा। यद्यपि हमीद साहब का वह अच्छी तरह दिमाग़ चाट चुके थे और फिर टेटनिस को पूछते हैं कि क्या होता है; यद्यपि ख़ूब अच्छी तरह पूछ चुके थे।

मैंने जल कर कहा—"टेटनिस एक तरह का बुख़ार होता है, जिसमें छींकें आती हैं।"

"हयँ!" वह बोले—"हमीद साहब, तो कहते थे कि ज़हरबाद होता है।"

"माफ़ कीजियेगा!!" मैंने कहा—"तो फिर आप जब जानते हैं कि टेटनिस क्या बला है, तो मेरा दिमाग़ चाटने से क्या फ़ायदा?"

ज़ाहिर है कि इस प्रकार की बातचीत का परिणाम क्या हो सकता है। वह बुरा माने। मैंने और भी बुरा माना, जिससे वह और भी बुरा माने।

....

मेरे डिब्बे में वैसे तो कई आदमी थे, परन्तु बिलकुल ही पास बैठनेवाले एक तो ज़मींदारों की-सी शक्ल के लखनऊ की तरफ़ के मुसलमान थे।

एक और साहब कुछ फ़ौजीनुमा मालूम हो रहे थे। ख़ाकी क़मीज़ और नेकर पहने थे। उनके पास ही मेरे एक देशवासी अर्थात् मारवाड़ी महाजन बैठे थे। इनके अतिरिक्त दो-एक और साहब भी थे। गाड़ी चली और दो-एक इधर-उधर की ज़बरदस्ती की बातें पूछ कर उन फ़ौजी साहब ने भी अन्त में पूछ ही लिया—"आपके हाथ में यह पट्टी कैसी बँधी है?"

मैं नहीं कह सकता कि मैं मन में कितना भन्नाया। लाचार हो कह दिया—"घाव हो गया है।"

"कैसे?" उन्होंने पूछा।

मारे गुस्से के मैंने कहा—"बात दरअसल यह है कि मगर ने काट खाया है।"

"मगर ने! मगर...मगर ने काट खाया?"

"जी हाँ।" मैंने बेपरवाही से कहा।

"कैसे?" उन्होंने बड़ी उत्सुकता के साथ अब विवरण पूछना चाहा कि मैं बताऊँ कि किस तरह पानी या दलदल में मगर से मेरा सामना हुआ। पर मैंने तंग आकर अब दूसरी तरकीब सोची थी। अतः बड़ी गम्भीरता से मैंने कहा—"मुँह से काट खाया।"

"जी हाँ।" उन्होंने सिर हिलाते हुए कहा—"मुंह से तो काटा ही होगा। पर कहाँ पर आख़िर....!"

जहाँ चोट लगी थी और पट्टी बँधी थी, मैंने वह हिस्सा दूसरे हाथ से पकड़ कर कहा—"यहाँ पर काट खाया, और मुँह दबाकर काट खाया।" मुँह दबाने की हाथ से नक़ल करते हुए मैंने कहा।

"नहीं साहब!" वह दूसरे ज़मींदार साहब बोले—"इनका मतलब यह है कि वह कौन-सी जगह थी जहाँ मगर ने काट खाया, क्या घटना हुई थी?"

मैंने उसी तरह रूखे स्वर में कहा—"मैंने कहा न, इसी जगह पर हथेली के पास।" मैंने फिर दोबारा जगह को पकड़ कर—"इसी जगह कमबख़्त ने काट खाया। और कोई घटना तो हुई नहीं।"

कुछ खीज कर वे बोले—"अजी हज़रत, क़िस्सा सुनाइये, किस तरह कौन से दरिया में या ताल में? क्या मामला पेश आया कि मगर ने आपकी हथेली में काट खाया?"

"अब मैं समझा कि आपका क्या मतलब है।" मैंने कहा—"सुनिये, घटना असल में यह हुई कि हमारे पड़ोस में एक नदी है, वहाँ एक बड़ा-सा मगर रहता था। एक दिन मैंने कोई दस सेर का बहुत बड़ा मछली का काँटा बनवाया। उसे एक मोटे से तार के रस्से में बाँधकर पेड़ से बाँध दिया और काँटे पर माँस लगाकर नदी में डाल दिया। उसमें मगर रात के आठ बजकर तीन मिनट पर फँस गया।"

इस संक्षिप्त वर्णन को लोग भला काहे को पसन्द करते। चारों ओर से सवालों की बौछार होने लगी।

किसी ने पूछा—"साहब, काँटा कैसी नोक का था?" किसी ने कहा, "क्या वह निगल गया?" ग़रज़, तरह-तरह के सवाल किये गये और लाचार होकर मुझको मगर के शिकार की और बातें सुनानी पड़ीं। इसके बाद मैंने जिस प्रकार भी सम्भव था, क़िस्से को कहानी का रङ्ग देकर बयान करना शुरू किया। और उस स्थल पर पहुँचा ही था कि दस-बारह आदमियों ने रस्सा खींचा है, और ज़ोर से तड़प कर मगर ने पलटा खाया ही है कि दूसरा स्टेशन आ गया। स्टेशन आने से मेरा क़िस्सा भला काहे को रुकता। परन्तु यहाँ यह मुसीबत आई कि एक महाशय कोई छकड़े-भर असबाब के साथ उसी डिब्बे पर झपट पड़े। इस तेज़ी के साथ उन्होंने और उनके नौकरों ने असबाब की फेंकाफेंक और ठूँसठाँस को कि सब को अपने-अपने बोरिया-बिस्तर और जगह की पड़ गई। ये महाशय शायद पुलिस-दारोग़ा थे और किसी दूसरे थाने पर बदली के सिलसिले में लद रहे थे। लम्बे-तगड़े जवान थे और उनकी बड़ी-बड़ी मूँछें थीं। सामने ही दूसरों की जगह पर क़ब्ज़ा करके इधर-उधर सरका कर बैठ गये, और तुरन्त मुझे पान पेश किये। मेरा दुर्भाग्य कि मैंने धन्यवाद सहित पान को स्वीकार कर लिया। इसके बाद तुरन्त ही उन्होंने मौसम की शिकायत की। मैं जानता ही था कि अब ये मुझे छेड़ेंगे। अतः उन्होंने भी गोला दे मारा।

"क्यों जनाब, यह आपके हाथ में पट्टी कैसे है ?"

"सूखे मुँह से मैंने कहा—"परसों काले साँप ने काट खाया।"

"अरे, काला साँप !"

"जी काला !" यह कह कर मैंने इधर-उधर उन लोगों पर नज़र डाली, जिनको मगरवाला क़िस्सा सुना रहा था, और जो शायद अब बाक़ी कहानी को पूरा करने की फ़रमाइश करने ही वाले थे। किसी के चेहरे पर गम्भीरता थी, तो किसी के चेहरे पर मुस्कराहट।

"कहाँ ? कैसे ? कहाँ काट खाया ? कैसे काट खाया ? कब ?"

"मैंने कहा न, कि परसों काट खाया।"

"कहाँ ? आप क्या कर रहे थे ?"

"यहाँ !" मैंने पट्टी पर हाथ से बताकर कहा—"यहाँ काट खाया, मैं खाना खा रहा था।"

"तो फिर क्या हुआ ?"

"फिर साँप ने काट खाया।" मैंने सरलता से कहा।

"कैसे ?"

"ऐसे।" मैंने अँगुली से चुटकी लेकर साँप के काटने की नक़ल करते हुए कहा—"ऐसे काट खाया।"

"अजी साहब, यह मतलब नहीं। आख़िर क्या हुआ था ? साँप कैसे आया और पूरी घटना किस प्रकार घटी ?"

इसके बाद मैंने अपने साँप के काटने की कहानी सुनानी शुरू की, जो दुर्भाग्य से इस समय मुझे याद नहीं। परन्तु इतना ख़ूब अच्छी तरह याद है कि मैंने अपनी कहानी बड़े अच्छे ढंग से सुनाई थी।

जो लोग मगर का क़िस्सा सुन चुके थे, उनके प्रश्नों का मैंने बड़ी ही सादगी से उत्तर दिया। मैंने कहा—"मगर भला कैसे काट सकता है।—मुझे मगर ने कभी नहीं काटा।" मेरी गम्भीरता पर पहले तो वे कुछ मुस्कराये फिर उनके चेहरों पर कुछ चिन्ता के चिह्न दिखाई पड़े। परन्तु मैं पूर्ण गम्भीर बना रहा। मेरे मन को प्रसन्नता हो रही थी और दिन भर के सही जवाब देते रहने से जो कष्ट हुआ था, वह दूर हो चुका था।

पहले की अपेक्षा अब मैं प्रसन्न था। बड़ी बेपरवाही के साथ मैं अख़बार पढ़ने में व्यस्त हो गया।

कई स्टेशन गुज़र गये, और कोई नवागन्तुक ऐसा न आया, जो मेरी पट्टी का हाल पूछता। किसी ने सच कहा है कि 'कभी नाव गाड़ी पर, और कभी गाड़ी नाव पर।' अब मेरा नम्बर था, और मैं राह देख रहा था कि कोई मुझसे पूछे ! पर किसी ने न पूछा। यहाँ तक कि मैं घर यानी ससुराल पहुँचा।

... ...

रात के साढ़े ग्यारह बजे होंगे। सासजी के सामने फ़र्श पर मैं अदब के साथ बैठ गया। सलाम-दुआ के बाद पहला प्रश्न जो उन्होंने किया, वह यह था—"ख़ुदा ख़ैर करे, यह तुम्हारे हाथ में पट्टी कैसी बँधी है !"

"गोली लग गई।" मैंने जल कर कहा।

"या अली !" वे चौंक कर बोलीं—"गोली ? ख़ुदा ख़ैर करे ! कैसे लग गई ?"

"बन्दूक़ की नाल से !" मैंने कहा।

"बेटा, आख़िर क्या हुआ था, कैसे बन्दूक़ चल गई ?"

मैं क्या बताऊँ। मुझे इन प्रश्नों से अब कैसी तकलीफ़ हो रही थी। सबसे बड़ी चिन्ता मुझे यह देख कर हो रही थी कि छतवाले कमरे पर बिजली की रोशनी ग़ायब थी। अर्थात् कमरे वाली शायद नहीं, बल्कि अवश्य वहाँ नहीं थी। अतः उन्हें जवाब देने के बजाय मैंने दिल में सोचा कि शायद अपने मामा के यहाँ गई होगी। एक मूर्ख मित्र ने सलाह दी थी कि बिना सूचना दिये ससुराल जाना और फिर पत्नी से मिलना अधिक प्रसन्नता का कारण होता है। मैं मन में जवाब देने के बजाय अपने मूर्ख मित्र को कोस रहा था। फिर एकाएक चौंक-सा पड़ा और बहुत रूखा-फीका-सा क़िस्सा सुना दिया कि संयोगवश बन्दूक़ चल गई, और गोली छूटी हुई निकल गई।

इसी बीच में मेरी छोटी साली साहिबा बल खाती, लजाती आईं।

मैं उस समय बड़ी उलझन में था, क्योंकि बड़ी बी दुनिया भर की तो बातें कर रही थीं; पर यह न बताती थीं कि हमारी श्रीमतीजी कहाँ हैं। मामा के घर या अपने ही घर में। ख़ुदा का शुक्र है कि छोटी साली साहिबा से इतना तो मालूम हो गया कि श्रीमतीजी घर पर नहीं हैं। बड़ी बी बोलीं..."दोनों गई थीं, यह तो शाम ही को लौट आई, और उसने खाना खाकर आने को कहा था; पर रह गई। बहिन ने पकड़ लिया होगा। अल्लाह रक्खे, दोनों में बड़ी मोहब्बत है, अक्सर बुला भेजती है।"

यह कह कर बड़ी बी ने तो ममेरी बहिन के प्रेम की अरुचिकर कहानी कहना शुरू की, और इधर मैंने मुँह बनाया और बेपरवाही से जँभाइयाँ लेना शुरू कीं, क्योंकि पत्नी से इस प्रकार का प्रेम करनेवालियों से मुझे सख़्त नफ़रत है। ख़ुदा का शुक्र है कि बड़ी बी समझ गईं और कहने लगीं—"लो, अब तुम सो रहो।"

मैं थके हुए पैरों से अँधेरे में बड़ी बेपरवाही के साथ ज़ीने पर चढ़ा। छत पर पहुँचते ही बत्ती जलाई। नौकरानी कमबख़्त ने मेरा बिस्तर ज्यों का त्यों पलंग पर रख दिया था। मैंने खोल कर बिछाया, बत्ती बुझा दी और लेट रहा। बहुत जल्द नींद आ गई।

रात का पिछला पहर और गर्मियों की ठण्ढी हवा में मतवाली नींद! किन्तु कुछ आहट, कुछ गर्मी और कुछ सुगन्ध उस नींद को भी भगा सकती है। मैं बिजली की रोशनी में हड़बड़ा कर उठा, "कौन?" मेरे मुँह से निकला। जवाब देनेवाली मुस्करा रही थी। वह मेरी उपस्थिति पर और मैं उसकी उपस्थिति पर। ग़लती मेरी थी। कमरे के बग़ल में दूसरी ओर सामने ही तो चारपाई पड़ी थी। मैंने देखी ही नहीं। न सलाम न दुआ! वे भी सबसे पहले यही पूछ बैठीं—"यह हाथ में आपके क्या हुआ? पट्टी कैसी बँधी है?"

एक दम से लगा, मानो गोली लग गई हो। उन्हें छोड़ कर अलग खड़ा हो गया और उसी समय कान पकड़ कर यह निश्चय किया कि अब पट्टी कभी न बाँधूगा। ख़ुदा मेरे इस निश्चय की लाज रक्खे!

यह तस्वीर किसकी है ?

[१]

मुझे अगर अपनी बीबी की तस्वीरें तरह-तरह से खींचने और खिचवाने का शौक़ था, तो कोई ताज्जुब नहीं। तस्वीरें खिचवाईं, जगह-जगह से ऐनलार्ज करवाईं, हर रुख़ से बिठा कर तस्वीरें लीं, हर लिबास और हर ढंग से तस्वीरें खींचीं, चौखटे लगवाए, उम्दा-उम्दा फ्रेम बनवाये, तस्वीरों में तरह-तरह के रंग भरवाये; ग़रज़ मुसव्वरी की हद कर दी और कमरे को चित्रशाला बना दिया।

और मेरे इस शौक़ का परिणाम यह हुआ कि अब श्रीमती जी को भी अपने प्रिय पति की तस्वीरें खिचवाने का शौक़ लग गया ! ख़ुदा ख़ैर करे !

× × ×

मेरी मौजूदा तस्वीरों को श्रीमती जी ने ग़ौर से देखा। "इनमें से कोई ठीक नहीं है। भौंएँ सिकोड़ कर कहा, "घर की खिची हैं न !"

भाभी जान ने मुस्कुरा कर आँख के इशारे से कहा—"यह तो नहीं है घर की, देखो, देखो !"

"तो फिर किसी ऐसे-वैसे ने खींची है !" श्रीमती जी बोलीं।

"नाम नीचे लिखा है। फिर ऐसे मशहूर फ़ोटोग्राफ़र की दुकान...!"

झल्ला कर श्रीमती जी ने कहा—"ऊँची दुकान फीका पकवान ! बेगार टालते हैं सब ! इससे अच्छी तो ख़ुद मैंने खींची है।"

"आख़िर इसमें ख़राबी कौन-सी है !"—भाभी जान ने श्रीमती जी से पूछा। "बिलकुल साफ़ तस्वीर है। बाल-बाल साफ़ आया है। यह देखो आँख के नीचे की......। ज़रा भाई इधर मुँह फेरिएगा।"

मैंने मुँह फेर लिया, तो कहा—"यह ! यह ! यह देखो, आँखों के नीचे हड्डी जिस तरह साफ़ इस रुख़ से दिखाई देती है, वैसे ही इसमें है। और फिर...फिर यह देखो आँख की तरफ़ से नीचे का ढाल बराबर चला आ रहा है और ठोड़ी के पास...यह देखो फिर उभरी हुई हड्डी साफ़ है !"

इस तरह भाभी जान ने मेरे चमरख़ चेहरे के ऊँच-नीच की तशरीह (व्याख्या) करके साबित कर दिया कि तस्वीर बिलकुल हू-बहू ठीक है। नक़ल मुताबिक़ असल है। श्रीमती जी को बेहद बुरा मालूम हुआ! उन्होंने तस्वीर हाथ से झपट ली और जल कर कहा—"अच्छा बहन, मैं तुमसे थोड़ी ही कह रही हूँ, जो तुम बहस पर तुल पड़ीं।" यह कह कर तस्वीर भाभी जान से ले ली।

रुस्तम के दोस्त, असफ़न्दयार, मेरे एक दोस्त थे, जिनसे मेरी बहस रहती थी, कि मैं तगड़ा या वह जाड़ों में अण्डे खाये जाते थे और गुप्त रूप से डण्ड पेलते थे। और फिर दोनों पहलवान अपने क़वीहैकल (हृष्ट-पुष्ट) जिस्मों को नापते थे और स्टेशन जा कर वज़न करके मुक़ाबला करते थे। कभी मैं एक मन पाँच सेर का निकलता, तो वह छः सेर, और कभी मैं सेर आध-सेर बढ़ जाता। उसकी तस्वीर भी निकल आई और भाभी जान ने तस्वीर देख कर कहा—"ज़रा इन चमरख़ को देखना···डर लगता है बस देखने से!"

श्रीमती जी दिल ही दिल में सुलग गईं और फ़ुर्ती से उन्होंने एक तीसरी तस्वीर निकाली और कहा—"ज़रा मज़हर भाई को देखना! मालूम होता है, बोरा है रक्खा हुआ! मुझे तो क़ै आती है देखने से···ज़रा देखिए तो गर्दन!"

मज़हर वाक़ई बेहद मोटे थे। मगर यह इशारा था दरअसल भाई साहब की तरफ़ और भाभी जान ने फ़ौरन एक मुस्कुराहट के साथ उसको महसूस किया।

"न भागने के, न दौड़ने के·····!" श्रीमती जी ने कहा। (क्योंकि परसों ही का ज़िक्र है कि भाई साहब ने दौड़ने का नमूना मेरे मुक़ाबिले में अजीब ही भद्दी तरह पेश किया था।)

भाभी जान ने तुरन्त ही प्रतिवाद किया—"ख़ैर, दौड़ने-भागने की भले आदमियों को ज़रूरत ही क्या है? मुर्ग़ियाँ पकड़ने के लिए नौकर हैं।"

दरअसल मुर्ग़ी निकल भागी थी, और उसके सिलसिले में एक तरफ़

से भाई साहब ने लगे हाथों उसको घेरने की कोशिश की थी, और दूसरी तरफ़ से मैंने।

"जो दौड़-धूप न पाये, वह आदमी ही क्या!"—श्रीमती जी ने कहा और अपनी तस्वीरें समेट कर चलती बनीं।

मुझसे श्रीमती जी ने कहा—"आज शाम को फ़ोटोग्राफ़र को ले आना।"

[२]

फ़ोटोग्राफ़र आया, तो सबसे पहिले श्रीमती जी ने उसका कैमरा देखा। फ़ोटोग्राफ़ी जैसी जानती थीं, मुझे ख़ूब मालूम था। मगर फ़ोटोग्राफ़ी से ज़्यादा वह 'कोडक' और 'ज़ायसकिन' और दूसरे मशहूर कारख़ानों के कैमरों और लेन्सों से तो नहीं, लेकिन हाँ, लेन्सों की फेहरिस्तों से या फिर दूसरे शब्दों में कैमरे और लेन्सों के नाम और क़ीमतों से अच्छी तरह वाक़िफ़ थीं। और सच तो यह है, कि यही उनकी फ़ोटोग्राफ़री का मा-हसल (सार) था।

"कौन-सा लेन्स है आपके कैमरे का?"—श्रीमती जी ने फ़ोटोग्राफ़राना शान से पूछा। फ़ोटोग्राफ़र ने जवाब में एक अजीबो-ग़रीब ऐसा जर्मन नाम बताया, जिसका समझना हम लोगों के लिए ग़ैर-मुमकिन था। श्रीमती जी के चेहरे पर एक ख़फ़ीफ़-सी अनभिज्ञता की घबड़ाहट पैदा हुई। उन्होंने ख़्वाब में भी यह नाम न सुना था; मगर लुत्फ़ तो देखिये—"अच्छा," कह कर उठा लिया। सिर को ज़रा-सा हिला कर पढ़ा। लेन्स के डब्बे पर, लम्बा-सा लेन्स का नाम दर्ज था। या तो यह लेन्स की क़िस्म का नाम था, नहीं तो कारख़ाने का नाम तो शर्तिया था। उसको पढ़ने की कोशिश इसके सिवा क्या हो सकती थी, कि दिल में हर्फ़ शनाख़्त करते हुए, इस मूज़ी लफ़्ज़ का आधा तूल तय करने के बाद दूसरी तरफ़ ध्यान दिया जाय। अतः श्रीमती जी ने यही किया और फिर पूछा—"कितने का कैमरा है आपका?"

"नया मँगाया है।" कुछ धमकी देते हुए फ़ोटोग्राफ़र ने आँखों में आँखें डाल कर कहा—"सिर्फ़ लेन्स चौदह-सौ रुपए का है।"

आहिस्ता से श्रीमती जी ने लेन्स फ़ोटोग्राफ़र के हाथ में वापस दे दिया।

"आप कहेंगे कि लेन्स पर इतने दाम क्यों ख़र्च किये, तो वह इसलिए कि यह लेन्स बाल की खाल की तस्वीर खींच लेता है।" फ़ोटोग्राफ़र साहब

ने 'बाल की खाल' कहते वक़्त इस शान से हाथ को जुम्बिश देकर कहा, गोया कि वह ख़ुद लेन्स थे!

लेन्स कैमरे पर चढ़ा दिया गया, तो श्रीमती जी ने प्लेटों की तरफ़ तवज्जह की और कहा—"रैपिड है न!" यह कह कर हाथ बढ़ाया डब्बे की तरफ़।

"एक्सट्रा रैपिड!" डपट कर फ़ोटोग्राफ़र ने कहा।

श्रीमती जी को मालूम हो गया कि फ़ोटोग्राफ़र दाबव में आनेवाला नहीं, वरना उससे पेश्तर जो आया था, उसको तो उन्होंने न मालूम कितना सिखा कर छोड़ा था।

कैमरा मौक़े पर लगा दिया गया, और श्रीमती जी ने मुझे हुक्म दिया कि कपड़े पहनो। मैंने कोट पहिन लिया और टाई लगा ही रहा था, कि श्रीमती जी कमरे में पहुँचीं।

"आपको तो मुझसे ज़िद है।" यह कह कर टाई हाथ से घसीट कर दूर फेंकी!

"हैं!" मैंने मुँह फाड़ा।

"कोई दूसरी टाई ही नहीं जुड़ती! बस यही रह गई है! सुबह यही, शाम यही!···सुबह यही, शाम यही!!"

ट्रङ्क खोल कर डब्बे से एक 'नई-सी' टाई निकाली, और हाथ में टाई लेकर कहा "···और कोट! कोट!!"

मैंने कोट की तरफ़ देखा—"क्यों क्या हुआ?"

"जैसे जानते ही नहीं, कि स्याह कोट होना चाहिए।" यह कह कर सर्दियों का आस्मानी ब्लेज़र निकाल लाईं।

"मार डालोगी····गर्मी में।"—मैंने ब्लेज़र को देख कर कहा। ख़ुदा के लिए········!"

"आपको तो फ़िज़ूल बातें आती हैं। एक लमहा-भरा को पहनना है।" यह कह कर ब्रश किया जाने लगा।

"आइये साहब!"—फ़ोटोग्राफ़र ने कहा।

मैंने जल्दी-जल्दी कपड़े पहने और चला बाहर को! श्रीमती जी ने

ज़ोर से मेरा बाज़ू पकड़ कर कहा—"आइने में देखो ज़रा, ज़रा सर को, सर को, सर को !"

मैंने देखा, बाल बिलकुल ठीक बने हुए थे; मगर ऐसे नहीं जैसे श्रीमती जी को पसंद हैं, उनका बनाना ही दुश्वार है।

मैंने कहा—"ख़ुदा के वास्ते मुझसे वैसे बाल न बनवाओ, औरतों जैसे !"

"क्या आप फ़िज़ूल बातें करते हैं !........नहीं मानेंगे आप........इधर ....इधर लाओ........मैं न मानूँगी........।"

पकड़ लिया श्रीमती जी ने आख़िर को। मुझे बालों का यह नामाक़ूल तर्ज़ बिलकुल नापसन्द था। मगर........

कुर्सी पर बैठ गया और मेरी प्राणप्यारी ने पीछे खड़े होकर मेरा सर ठोड़ी से पकड़ कर मानो अपनी गोद में रख कर बाल बनाना शुरू किया। निहायत कामयाबी के साथ ब्रश से नोक-पलक दुरुस्त करके इतमीनान से देखा। अब मुझे इजाज़त थी। मैं उठा और दृष्टि-केन्द्र बना हुआ कुर्सी पर जाकर बैठ गया। फ़ोटोग्राफ़र ने कैमरे का लेवेल दुरुस्त करके स्याह कपड़े में सर डाल कर फ़ोकस लेना शुरू किया और थोड़ी देर बाद सर निकाला।

"ठीक है !" श्रीमती जी ने पूछा। और अब अपना सर स्याह कपड़े में डाल कर देखा। कैमरे के ताक़तवर लेन्स ने कुछ और ही कहानी कही। एकदम से श्रीमती जी ने सर निकाल कर फ़ोटोग्राफ़र से कहा—"बिल्कुल ग़लत है !!"

"कैसे साहब ! कैसे !"

"देखो खुद !"

फ़ोटोग्राफ़र ने अपना सर कपड़े में डाला, और श्रीमती जी ने कहा—"देखिए ग़ौर से........दोतरफ़ा चेहरे को........बाएँ तरफ़........।"

"क्या है !"—फ़ोटोग्राफ़र ने उसी तरह सर डाले कहा।

"किस क़दर ख़राब तस्वीर आएगी......और आप कहते हैं क्या है ! पोज ग़लत है !"

"तो साहब, गालों का गढ़ा तो आयगा।" सर निकाल कर फ़ोटोग्राफ़र ने कहा। और इधर मैंने एक अनुभवहीन ढंग से एक बे-अख़्तियारी

के साथ ज़रा गाल फुलाये। जवाब में भुन्ना कर श्रीमती जी ने फ़ोटोग्राफ़र को देखा और फिर कहा—"कैसे आप कहते हैं!" मेरी तरफ़ मुतवज्जह होकर कहा—"आप सीध में उस बकरी की तरफ़ देखिए।" सामने ज़रा बाएँ हाथ को एक बकरी बैठी जुगाली कर रही थी।

अब श्रीमती जी ने सर डाल कर कपड़े में देखा। हाथ से इशारा कर के कहा—"इधर को उधर....उधर बस...बस....ऊँ...ऊँ...इतना नहीं ...बस ज़रा इस तरफ़...हाँ, सर ऊँचा...अरे इतना नहीं...बस....बस ज़रा आगे...!"

यह कह कर श्रीमती जी ने अपना सर निकाला और कहा—"बस, अब जुम्बिश न कीजिएगा। आप बस बकरी पर नज़र जमाए रहिये!"

अब फ़ोटोग्राफ़र साहब की बारी आई। उन्होंने सर डाला और बोले—"यह पोज़ तो उससे भी ग़लत है!" यह कह कर सर निकाल लिया बाहर, और कहा—"बालों को आपने नहीं देखा, बेतरह 'हाई लाइट*' पड़ रही है; फिर होंठ बाहर निकले मालूम हो रहे हैं, और ठोड़ी की हड्डी... आगे को...फिर कनपटी।"

इधर कुछ मेरा हाल भी सुनिए। गर्मी के मारे बुरा हाल! फिर गर्दन की रग-रग में दर्द, क्योंकि तमाम रगें एक ख़ास तरीक़े पर गर्दन को साधने पर मजबूर की गई थीं, जैसे ख़ेमे के बीच के खम्भे को डरियाँ क़ायदे से खींचे रहती हैं। होंठ मेरे मोटे हैं। मैं उन्हें दाँतों से पकड़े नहीं, बल्कि गोया पीए बैठा था। तमाम बाछों की कोमल और बारीक नसें ढीली हो चुकी थीं। फिर हवा की एक रमक चुचके गालों को ख़फ़ीफ़-सा फुलाने के लिए भी मुँह में रोके रहा, और वह भी इस तरह कि एक तरफ़ गाल में ज़्यादा हवा हो और दूसरी तरफ़ कम। इसका ज़रा तजुर्बा कीजिए, तब मालूम होगा, कि यह काम किस क़दर मुशकिल है। यह सब बातें और फिर बकरी! वह भला निचली काहे को बैठती। खड़ी हो गई और घूम कर दूसरी जगह! मैंने उसकी जगह तो अन्दाज़ ली थी, कि यहाँ बैठी थी, और सोच लिया

* रोशनी की चमक जो फ़ोटो में सफ़ेद आती है।

कि नज़र जगह पर ही रक्खूँगा; मगर फ़िलहाल तो नज़र बकरी पर थी। बोल सकता न था, क्योंकि होंठ मसूड़ों के साथ चिपकाये बैठा था।

श्रीमती जी ने फिर सर अपना डाला और थोड़ा-सा "इधर"उधर ...."ऊपर""नीचे" करने के बाद फ़ोटोग्राफ़र से कहा—"अब तस्वीर ले लो।"

फ़ोटोग्राफ़र ने भी झगड़ा ख़त्म करना चाहा, और उधर उसने 'रेडी' कहा और इधर मैंने ज़रा गालों में हवा पकड़ी। "वन.....टू ....थ्री!" तस्वीर खिंच गई। मैंने इतमीनान की साँस ली। श्रीमती जी और फ़ोटोग्राफ़र ने तस्वीर बढ़िया होने के बारे में भविष्यवाणी की। फ़ोटोग्राफ़र को हुक्म दिया गया कि जल्द से जल्द प्लेट धोकर दिखाये और उसके बाद प्रूफ़।

(३)

सम्भवतः आपने स्कूलों में हिसाब पढ़ा होगा और तमाम अलामात जोड़-बाक़ी, और ब्रैकिट वग़ैरह से वाक़िफ़ होंगे। बाक़ी की अलामात होती है यह—जिसको अँगरेज़ी में 'माइनस' कहते हैं और ब्रैकिट की अलामत होती है यह ( ) जिसे छोटा ब्रैकिट कहते हैं।

प्लेट धुल कर और सूख कर आई। श्रीमती जी ने कहा—"यह क्या है?"

नाक और ठोढ़ी के दरमियान हिसाब की अजीब अलामत मौजूद थी। इस तरह (—) यानी बाक़ी की अलामत छोटे ब्रैकिट के दरमियान!

"मुँह है" फ़ोटोग्राफ़र ने कहा। और वाक़ई था भी मुँह ही। मूँछें मैं मुड़वाता था।

"अरे साहब यह क्या है?........दोनों तरफ़!" श्रीमती जी ने ब्रैकिटों के बारे में पूछा—"यह क्या है?" और फ़ोटोग्राफ़र ने जवाब में मेरे मुँह की तरफ़ देखा। मैंने क़ुदरतान जँभाई लेकर एक ख़ास तरीक़े से मुँह सिकोड़ कर ब्रैकेट को अपने चेहरे पर से मिटाना चाहा, यानी होंठ समेट कर ज़रा आगे कर दिये।

फ़ोटोग्राफ़र ने मेरी तरफ़ उँगली से बता कर कहा—"पर झुर्रियाँ हैं, बाँछों के इधर-उधर देखिए।"

"इतनी वाज़ेह (स्पष्ट) तो नहीं हैं।"—श्रीमती जी ने कहा।

"मेरा लेन्स तो बाल से भी बारीक निशान को नहीं छोड़ता; और फिर मेरी क्या ख़ता है। लेन्स का तो काम ही यह है, कि असल की नक़ल उतार दे।"

"प्रिण्ट लीजिए......प्रूफ़ बनाइए; देखें।" श्रीमती जी ने कहा।

× × ×

प्रूफ़ तैयार हुआ और मैं बेचैन-सा हो गया, क्योंकि गाल मसनवी तौर पर फूले थे, और साफ़ मालूम होता था। "यह क्या!" श्रीमती जी ने एक कड़ी नज़र अब मेरे ऊपर डाली। इसी हरकत की वजह से यह अजीबो-ग़रीब ब्रेकिट इस क़दर ज़ाहिर हो गये थे!

मैं क्या जवाब देता। कुछ हकलाकर मुजरिमाना अन्दाज़ से लाल-पीली आँखों को देख कर दिल ही दिल में पढ़ने लगा—

"तू अगर चाहे उलट दे परदए बज़्मे-मजाज़।
कोई शै मुश्किल नहीं है हुस्ने-बरहम के लिए॥"

श्रीमती जी ने प्लेट उठा कर वह फेंकी तो झन से फ़र्श पर गिर कर खील-खील हो गई!

प्लेट फेंक कर श्रीमती जी ने फ़ोटोग्राफ़र से कहा—"आप न तो पोज़ लेना जानते हैं, न यह कि किसी जगह को ख़ास फ़ोकस में लें और न फिर आपको यह पता है कि रौशनी का रुख़ किधर है, और फिर प्लेट धोने में तो आप कमाल करते हैं! बिलकुल स्याह तस्वीर खींच कर रख दी। बस, कैमरा क़ीमती हो! न मालूम क्या सोच रक्खा है सबने।"

फ़ोटोग्राफ़र इसका क्या जवाब देता। उसने मेरी तरफ़ देखा, और मैंने उसको आँख मार दी कि चुप रहे। वह एक ताजिर (व्यापारी) आदमी, समझ गया और बोला—"आप ख़फ़ा क्यों होती हैं, मैं दूसरी तैयार करता हूँ......अभी।"

"आपसे नहीं खिंचेगी।" श्रीमतीजी ने कहा।

"अभी लीजिए। अभी-अभी देखिए मेरी कारीगरी!" श्रीमतीजी की कमज़ोरी की उसने शायद मेरी आँख झपकते ही ताड़ लिया था!

× × ×

फिर मुझे सौ शृंगार करने पड़े। बन-ठन कर फिर मैं नई बहू की तरह कुर्सी के आगोरा (गोद) में!

फिर तमाम वही पुराने नुस्ख़े दोहराये गये। अबकी मर्त्तबा मैंने गाल क़तई न फुलाए, क्योंकि फ़ोटोग्राफ़र ने दूसरी तरकीब पेश की थी; वह यह कि छोटे-छोटे दो पान खिलाकर कहा था कि चबा कर इधर-उधर बराबर के हिस्सों में तक़सीम कर लूँ। ज्यों-त्यों करके तस्वीर ली गई।

शाम ही को फ़ोटोग्राफ़र ने प्लेट पेश की। श्रीमती जी ने फ़ौरन नापसन्द कर दी। मगर क़ब्ल इसके, कि ना-पसन्दगी के वजूहात बयान करें, फ़ोटोग्राफ़र ने ज़बानबन्दी कर दी—"आप अभी कुछ न कहें। अगर तस्वीर नापसन्द हो, तो जो चोर का हाल, सो मेरा!"

प्रूफ़ लिया गया। बेहद ख़राब आया, यानी दूसरे शब्दों में बिलकुल असल के मुताबिक़ कैमरे के ताक़तवर लैन्स ने रुख़सारों (गालों) की मिट्टी पलीद कर दी थी, बीच में पान दबा हुआ था, और इधर-उधर उठ आये थे, मगर इर्द-गिर्द आगरे के क़िले की तरह ख़न्दक़ थी। ब्रेकिट मुँह के दोनों तरफ़ बदस्तूर थीं; मगर इतनी ज़ाहिर बेशक नहीं थीं, जितने गाल वैसे फुलाने से पेश्तरवाली तस्वीर में आ गई थीं। फिर चेहरे की दूसरी जगह की तमाम झुर्रियाँ, जो एक चमरख़ चेहरे का इन्तियाज़ी निशान हैं, अपनी-अपनी जगह बस सफ़ाई से मौजूद थीं कि जी यही चाहता था कि मिटा दें सब को एकदम से पर मुश्किल तो यह थी कि तमाम चेहरे पर धूप-छाँह-सी छिटकी हुई थी। आईने में शायद अपनी सूरत की कुछ ख़राबियाँ ऐनक आँखों के सामने लाज़िमी तौर से होने की वजह से दिखाई देना दुशवार हैं; मगर एक ताक़तवर लैन्स और उम्दा कैमरे ने कच्चा-चिट्ठा खोल कर रख दिया है। फ़ोटोग्राफ़र इस बेहतरीन तस्वीर को 'नामुकम्मल' और 'ख़ाका' का लक़ब देकर ले गया, 'रिटच' करने के लिए, वरना वाक़या तो यह है, कि तस्वीर न सिर्फ़ मेरी बेहतरीन तस्वीर थी, बल्कि बिलकुल मुताबिक़ असल।

"अरे बुलाना तो ज़रा"—श्रीमती जी ने बौखला कर फ़ोटो-

ग्राफ़र को बुलवाया। वह आया, तो श्रीमतीजी ने उँगली के इशारे से प्लेट को देखकर बताया—"यह न आना चाहिए, यानी ब्रैकिटें।" फ़ोटोग्राफ़र ने इतमीनान दिलाया कि इसका तो पता तक न चलेगा।

(४)

पाँच रोज़ बाद का वाक़या है, कि मैं कॉलिज से वापस आया। सारा कमरा आईने की तरह गोया चमक रहा है। श्रीमतीजी कमरे में खड़ी दोनों हाथों की मुट्ठियों को दूरबीन बनाए हुए दीवार की तरफ़ देख रही थीं। मेरे पैर की आहट सुनकर मेरी तरफ़ देखा। मेरा एक क़दम बरामदे में था और दूसरा कमरे में। हम दोनों ने एक-दूसरे को देखा, और फिर मैंने दीवार की तरफ़। सामने मेरी तस्वीर दीवार पर लगी थी। वल्लाह! क्या तस्वीर थी, कि मैं देखता का देखता रह गया।

"माशाअल्ला कैसी सूरत पाई है!"—मैंने कहा।

"कैसी लाजवाब तस्वीर खींची है!"—तस्वीर की मालिका, यानी श्रीमती जी ने कहा।

"यह तस्वीर किसकी है!" कमरे में दाख़िल होते हुए भाभी जान ने पूछा। फिर ज़रा ज़ोर देकर कहा—"यह तस्वीर किसकी है!"

श्रीमतीजी ने भाभी जान की तरफ़ देखा। भाभी जान ने श्रीमतीजी, तस्वीर और मेरी तरफ़ देखकर फिर श्रीमतीजी से पूछा—"कहाँ से आई········ यह तस्वीर किसकी है!"

श्रीमतीजी के दिली जज़बात (भावों) का मुझे ठीक पता नहीं, पर उनके रौशन चेहरे पर ग़ुस्से का एक ग़ुबार-सा छा गया। मगर मुझसे पूछिए कि मेरा क्या हाल हुआ, हालाँ कि तस्वीर किसी तरह मेरी फ़ोटो कहलाने की मुस्तहक़ न थी। और न मैंने उसे बनवाया था; मगर उसको मैं वजूद में लाने का ज़िम्मेदार ज़रूर था।

भाभी जान ने शायद ख़ामोशी के कुछ मानी लिए और ग़ौर से तस्वीर और मेरे चेहरे का मुक़ाबिला करके मुस्कुरा कर अपने सर को जुम्बिश दे कर कहा—"आपकी है!········सच बताइए····आपकी है न?"

154 → 1947 → 1948

2nd year class . Love Roll 71

"उफ़ !" श्रीमती जी ने जलकर कहा—"उफ़, कैसी बनती हैं आप जैसे........।" Ist year

इतने में खट से दरवाज़े की चौखट पर आवाज़ हुई, और भाई साहब ने अपनी बुलन्द आवाज़ में कहा—"क्या है !....हैं....यह तस्वीर किसकी है !"

"खूब ! यह आपकी तस्वीर है !" भाभी जान ने कहा।

"यह तस्वीर किस गधे ने खींची है !" भाई साहब ने कहा—"लाहौल विला कुव्वत !"

श्रीमतीजी के यहाँ इस वक्त कबाबों की दूकान लगी हुई थी। क्या मैं जवाब देता और क्या वह ! भाभी जान के चेहरे पर सख़्त शरारत-आमेज़ मुस्कुराहट ज़ाहिर हो रही थी। उन्होंने जल्दी-जल्दी ऐनक साफ़ की और ग़ौर से ऐनक दाहिने हाथ से पकड़ कर मुझे देख कर अब तस्वीर को निहायत ही ग़ौर से देखना शुरू किया। उनका चेहरा ज़्यादा चमकने लगा ! मुस्कुराहट ज़्यादा नुमायाँ होती गई। श्रीमती जी उनके चेहरे की तरफ़ टकटकी बाँधे देख रही थीं। जिस मुनासिबत से भाभी जान खिलती जा रही थीं, उसी मुनासिबत से श्रीमती जी के चेहरे पर ग़मो-ग़ुस्सा की तहरीर पुरताब होती जा रही थी। हत्ता कि.... जङ्ग !

× × ×

भाभी जान कमरे से कहकहे लगाती गईं। जब ज़रा ग़ुस्सा कम हुआ, तो श्रीमती जी ने उस साज़िश का अन्देशा ज़ाहिर किया, जिसको भाभी जान ने शुरू किया था। दरअसल भाभी जान और भाई साहब दोनों लड़ने की नीयत से मशविरा करके आये थे।

अभी यह बातें हो ही रही थीं कि शेख़ानी बूआ आ पहुँची।

"यह तस्वीर किसकी है !" उन्होंने ग़ौर से देखकर रकाबी से तस्वीर की तरफ़ इशारा करके मुस्कुराते हुए कहा—"किसी फ़िरङ्गिन की है ! मेम की !"

श्रीमतीजी इस ज़ोर से फट पड़ीं कि खुदा की पनाह !

"ऐसी बातें वहीं (भाभी जान से) जाकर किया करो। ख़बरदार, जो मुझसे ऐसी बातें की!"

बड़बड़ाती हुई बी-शेख़ानी कमरे से निकल गईं।

इतने में ख़रबूजे वाली आ गई। रोज़ आती थी। मेरी दानिस्त में भाभी जान के कमरे की तरफ़ से होकर ही आई थी; जभी तो उसको उन्होंने सिखाकर भेजा। उसने आते ही बजाय ख़रबूज़ों की बातचीत करने के, फ़ौरन श्रीमतीजी की तरफ़ देखकर पूछा—"यह तस्वीर किसकी है!"

"निकल यहाँ से!" श्रीमतीजी ने आग-बबूला होकर कहा—"निकल यहाँ से चुड़ैल, निकल, नहीं····निकल····निकल!"

× × ×

"मशीन का शटल मँगवाया है!"

मुड़ के श्रीमतीजी ने देखा। पड़ोस के बङ्गले में श्रीमतीजी की मुँह बोली बहन रहती थी। उन्होंने लड़के मुलाज़िम को शटल लेने भेजा था।

"अच्छा देती हूँ।" श्रीमतीजी ने कहा।

"यह तस्वीर किसकी है!" उसने गोया जवाब दिया।

श्रीमतीजी ने एक चाँटा इस ज़ोर से उसके गाल पर दिया कि जब तक वह लकड़ी तलाश करे-करे वह रोता हुआ भागा।

"अबे शटल तो लेता जा!" मैंने पुकार कर कहा, मगर वह तो डबल जा रहा था।

अभी श्रीमती बड़बड़ा रही थीं, कि भाभी जान के यहाँ से आया जी आईं। भेजी गई थी वह श्रीमतीजी की तबियत का हाल पूछने, मगर देखिए तो मक्कारा की बातें कि पूछती है—"यह तस्वीर किसकी है!"

एक डाँट बताई श्रीमतीजी ने, और डपटकर निकाला।

"मैं तो तबियत पूछने आई थी।"

"चूल्हे में जाय तबियत·······निकलो यहाँ से!"

आया जी गई ही थीं, कि भिश्ती का लड़का आया 'इनाम' माँगने। उसकी ख़बर ली गई, कि धोबिन आई, उसके बाद वालिदा साहेबा आईं, फिर नानी-अम्मा आईं और उन्होंने भी आँखें मिचका का यही पूछा।

"दिन भर इसी हड़बोंग में कटा। शाम को जो मैं वापस आया हूँ, तो क्या देखता हूँ कि एक लकड़ी मोटी-सी रक्खी है। सब्र का प्याला लबरेज़ हो चुका है। "अगर अब किसी ने पूछा कि यह तस्वीर किसकी है, तो उसकी ख़ैर नहीं।" श्रीमतीजी ने लकड़ी दिखा कर मुझसे कहा।

इत्तफ़ाक़ तो देखिए कि भाभी जान का कुत्ता टॉमी कमरे में आया और लगा दुम हिलाकर देखने तस्वीर की तरफ़।

उसने दुम हिलाना बन्द कर दिया। ग़ौर से तस्वीर की तरफ़ देखकर एकदम खड़ा हो गया, सन्नाटे में आ गया। देखते-देखते इधर तस्वीर से आँख हटाकर उसने श्रीमतीजी की तरफ़ सकलिया आँखें फेरी हैं, कि वह लकड़ी इस ज़ोर से उसकी पीठ पर पड़ी कि दोहरा हो गया और बेतहाशा भागा! श्रीमती जी उसके पीछे.......।

दरवाज़े पर झूलेदार कुर्सी में कुत्ता उलझा......। इधर से श्रीमतीजी.... और उधर से अपने अज़ीज़ टॉमी की सदाए-फ़रियाद (गुहारा) से घबड़ाकर भाभी जान लपकीं! कुत्ता तो निकल गया, मगर जेठानी-देवरानी में ऐसी टक्कर हुई कि दोनों गिरीं!

भाभी जान की ऐनक टूट गई,—वह जो उन्होंने अभी-अभी मुझसे मोल ली थी और दाम भी नहीं दिए थें।

"यह लीजिए अपनी ऐनक!"—भाभी जान ने टूटी हुई ऐनक मेरे हाथ में दी, गोया अब दाम न देंगी और फिर उसके बाद.......।

× × ×

आज तक श्रीमतीजी और भाभी जान में बातचीत नहीं हुई और हो कैसे! क्योंकि उन्होंने क़सम खा रक्खी है, कि मैं लोगों को सिखाने-पढ़ाने से बाज़ न आऊँगी। चुनाचे जो आता है, वह यही पूछता है कि "यह तस्वीर किसकी है!" और फिर भाभी जान को देखिए कि क़समें खाती हैं झूठी, कि मैंने किसी को नहीं सिखाया। क्या तदबीर है कि भाभी जान लोगों को सिखाना-पढ़ाना छोड़ दें और लोग इस तरह का नामाकूल सवाल करना छोड़ें!

चिल्लाकशी

हम तहसीली स्कूल में उर्दू मिडिल में पढ़ते थे और हमारे पूज्य पिता जी की कामना थी कि किसी तरह हम जल्दी से मिडिल पास करके पटवारी हो जायँ और हमारा विवाह कर दिया जाय। मगर हमारा भाग्य भी विचित्र था। दो वर्ष से बराबर फेल हो जाते। लोग हमको गब्बर कहते थे। कोई कहता था कि हमारे दिमाग़ में भुस भरा है, कोई कहता था कि गोबर भरा है और कोई कहता था कि हम बिलकुल उल्लू हैं। पर तनिक भी इंसाफ़ से देखा जाय तो हमारी कुछ ख़ता नहीं थी। अगर हम सबक़ याद करें और फिर भी भूल जायँ तो हम उल्लू कैसे हुए।

हमारे स्कूल के हेडमास्टर मुंशी रामसहाय कायस्त थे और बड़े ही ख़तरनाक आदमी थे। हमको अच्छी तरह याद है कि जब हमारे पिता जी ने हमें उनके हाथों सौंपा तो ये शब्द कहे थे कि—"मुंशी जी इस लड़के की हड्डी पसली हमारी और गोश्त और चमड़ा तुम्हारा, पर यह लड़का लायक़ निकले।" स्पष्ट है कि इन ख़तरनाक मुंशीजी को हमें मारने-कूटने में क्या संकोच हो सकता था, जब कि हमारे मांस और चाम की उनके नाम इस प्रकार रजिस्ट्री कर दी जाय।

हर साल मेरे फेल हो जाने पर मुंशीजी मुझे कूट-कूट कर ठीक करते थे लेकिन सबसे बड़ी विपत्ति फेल होने से मेरे ऊपर यह आती थी कि मेरा विवाह केवल इसी कारण रुका हुआ था कि मैं फेल हो जाता हूँ और धीरे-धीरे मैं अपनी अयोग्यता के लिए विख्यात हो रहा था और मुझे शंका हो रही थी कि कहीं यह ख्याति ख़तरनाक रूप न धारण कर ले।

मुझे सबसे अधिक भय इस बात का था कि मेरी प्रिय मँगेतर की इसी गड़बड़ और अयोग्यता के चक्कर में कहीं दूसरी जगह शादी न हो जाय। क्योंकि मुझको फिर ऐसी कन्या मिलनी असम्भव थी। वह मेरे गाँव के सबसे बड़े पट्टीदार की लड़की थी जो मेरे पड़ोसी थे, और फिर सबसे बड़ी बात यह कि मेरे साथ की खेली हुई थी और दोनों के हृदय एक हो चुके

थे। जब मैं सोचता था कि इस फेल होने के कारण मेरी मँगेतर छिन जायगी तो चिंता और दुख के मारे मेरा बुरा हाल हो जाता था।

(२)

परीक्षा में मैं तीसरी बार बैठा था। आप स्वयं इससे अनुमान कर सकते हैं कि मेरे पास होने का कहाँ तक विश्वास था, कि परीक्षा की तैयारी के सिलसिले में पीटते-पीटते मुंशीजी ने मेरा नक़शा बिगाड़ दिया था। और फिर मुझसे वचन ले लिया गया था कि यदि कहीं इस बार फेल हो गया तो मुझे मार डाला जायगा। भय के मारे मेरा यह हाल था कि मैं स्वयं कहता था कि यदि जीवित रहना है तो पास होना ही पड़ेगा। सारांश यह कि मुशीजी को और मेरे पिता जी को मेरे पास होने की बहुत कुछ आशा थी।

इम्तहान के नतीजे का दिन आया तो मेरे मन में एक अजीब उमंग और गुदगुदी थी। मैं सोच में मग्न था और स्वयं को दूल्हा बना हुआ देखता था और कभी यह सोचता था कि जब मेरे पिता जी के मिलने वाले मुझे बधाई देंगे तो मैं मारे शर्म के क्या उत्तर दूँगा। ग़रज कल्पना हमको कहीं से कहीं उड़ाए लिए जा रही थी।

किसी न किसी तरह गज़ट हाथ में आया और मैंने काँपते हुए हाथों से उसको खोला और स्कूल का नाम मेरी नज़र के सामने था और मैं तेज़ी से अपना नाम सफल परीक्षार्थियों की सूची में खोज रहा था। मेरे पिता जी मेरे कंधे के पास मुँह किए खड़े थे और चूँकि उनको मेरी सफलता की पूर्ण आशा थी अतः उनकी बाछें अभी से खिली हुई थीं!

मैंने मन में कहा—"हाय"। मेरा कलेजा धक से हो गया। आँखों तले अँधेरा छा गया, जल्दी से आँखों को मला और खब ग़ौर से अपने नाम को फिर से देखा लेकिन वहाँ भला कहाँ मिलता। बदन काँपने सा लगा, हाथ काँपने लगा और ग़ज़ट मेरे हाथ से छूटकर धरती पर गिर पड़ा। मेरे पिता जी ने क्रुद्ध होकर कहा—"अरे! तो क्या तू फिर फेल हो गया!"

मैं भला इसका क्या उत्तर देता, चुप रहा। पर मेरे पूज्य पिता जी फट पड़े। क्रोध के मारे उनका बुरा हाल हो गया और उन्होंने जूता लेकर जो मेरी मरम्मत करना शुरू की है तो मुझे लुटा-लुटा और बिछा-बिछा दिया

और इसके बाद मुझे बैलों के चारे की कोठरी में बन्द कर दिया। मैं कोठरी में बिना खाये-पिये पड़ा रहा और दिन भर आने-जाने वाले मुझे धिक्कारते रहे। रात गये माता जी ने मुझे इस क़ैद से रिहा किया तब कहीं जाकर खाने को मिला।

* * * *

आठ-दस दिन तक मेरे ऊपर चारों ओर से धिक्कार और फटकार की वर्षा होती रही यद्यपि मुझे ऐसी फिजूल बातों की तनिक भी परवाह नहीं थी किन्तु मुंशी रामसहाय का धड़का लगा हुआ था कि वे क्या कहेंगे। मुंशी जी से मेरे पिता जी और चाचा जी भी डरते थे क्योंकि वे इनके भी गुरु रह चुके थे और बहुत मारा था।

मैं मन में सोच रहा था कि मुंशी जी के रूप में जो संकट आने वाला था वह टल गया और वे अब नहीं आएँगे कि एक दिन की बात सुनिए। सुबह आठ बजे होंगे और मैं बाहर बैठा मुँह धो रहा था। एक दम से एक इक्का आकर रुका। मैंने आँख उठाकर देखा और यमदूत को देखकर मेरे देवता कूच कर गये। मुंशी रामसहाय बजाय इसके कि अपना बिस्तर और लोटा इक्के पर से उतरवाते या मेरे पिता जी के सलाम का जवाब देते, बस चील की तरह मेरे ऊपर झपटे। "मुंशी जी!" रोते हुए मेरे मुँह से निकला और मैं हाथ जोड़कर खड़ा हो गया, किन्तु वहाँ भला दया कहाँ! मुंशी जी ने एक लकड़ी से मेरी मरम्मत शुरू की।

"फिर फेल होगा, फिर फेल होगा!" की आवाज़ पर मैं धुनका जा रहा था और तड़पता फिरता था किन्तु मुन्शी जी मारना बन्द न करते थे। जब मेरा पिटते-पिटते बुरा हाल हो गया तो मुन्शी जी ने हाथ रोका और लकड़ी लिए सीधे मेरे पिता जी की ओर उनको "उल्लू, गधा" कहते हुए इस प्रकार बढ़े कि मुझे विपत्ति में भी एक प्रसन्नता और आशा की झलक दिखाई पड़ने लगी। किन्तु उनके साथ मुंशी जी ने रिआयत की और उनको मारा नहीं पर कहने के मामले में कोई बात न उठा रक्खी। सारांश यह कि मेरे पिता जी को उन्होंने मारते-मारते छोड़ा और दरअसल वे बाल-बाल बचे क्योंकि मुंशी जी मेरे फेल होने का सारा दोष उन्हीं के सिर

पर थोप रहे थे। पिता जी के बाद माता जी का नम्बर आया और उनको भी मुशी जी ने खूब बुरा भला कहा।

दो-तीन दिन मुशी जी मेरी छाती पर कोदों दलते रहे और इस बीच कभी चाँटा, कभी थप्पड़ और कभी जूता मेरे ऊपर पड़ता रहा। जब मुंशी जी की वापसी के लिए इक्का आया तब जाकर मेरी जान में जान आई। चलते समय मैंने अपने ज़ालिम गुरु के चरण छुए और वे रवाना हुए। यह महाशय जी दरअसल अजीव आदमी थे। परीक्षा-फल प्रकाशित होने के बाद सभी विद्यार्थियों के यहाँ का दौरा करके फेल होने वालों का यही हाल करते थे। गरज़ मुझे मारने ही के लिये आप पधारे थे।

(३)

मेरी समझ में न आता था कि क्या तरकीब करूँ कि पास हो जाऊँ। अब चौथी बार इम्तिहान की तैयारी करनी थी, वही विषय और वही पुस्तकें थीं। रह-रह कर सोचता था कि या खुदा क्या करूँ जो पास हो जाऊँ।

एक दिन की बात है कि मैं इसी सोच में पड़ा अपने भाग्य को रो रहा था कि मेरे घर और पड़ोस की सब स्त्रियाँ किसी दूसरी जगह एक मृत्यु में चली गईं। मैं छत पर चढ़ गया और अपनी दीवार पर चढ़कर दूसरे मकान की छत पर धीरे से कूदा और इस तरह कई छतें लाँघ कर अपनी भावी सुसराल पहुँचा। वहाँ देखा तो मेरी प्रिय मँगेतर बैठी कुछ सी रही थी। मैंने सीटी बजाकर अपनी ओर आकर्षित किया। उसने मुझको मुस्कराते हुये हाथ से इशारा किया और दौड़कर दरवाज़े की कुण्डी लगा दी। मैं झट से नीचे उतर गया और बिना कुछ सोचे-समझे एकदम से उसके हाथों में मुँह छिपाकर रोने लगा। सबसे पहले तो उसने मेरे पिटने पर दुख प्रकट किया और फिर सान्त्वना देती हुई मेरी यह कहकर हिम्मत बढ़ाई कि अबकी बार अवश्य पास हो जाऊँगा। मैंने कहा कि अब मेरे बस की यह बात नहीं कि इस मुहिम को सर कर सकूँ।

बड़े-बड़े उपाय सोचे किन्तु परीक्षा से छुटकारा पाने की कोई तरकीब न समझ में आई। किसी ने कहा है कि दो दिल एक होकर पहाड़ को काट सकते हैं। दो दिमाग़ लड़ते और कोई उपाय न सूझता यह कैसे हो सकता

था। सोचते-सोचते एकाएक मेरी पत्नी को ख़्याल आया और उसने वह तरकीब सुझाई कि मैं उछल पड़ा। उसकी माँ को शहर के एक शाह साहब ने एक मंत्र बताया था जिसके बल पर वह हारा हुआ मुक़दमा जीत गई थीं। मैंने शाह साहब का पूरा नाम और पता याद किया और मन में ठान लिया कि अवश्य उन शाह साहब से मिलूँगा। उसका और मेरा दोनों का विश्वास था कि शाह साहब के एक ही मन्त्र में इम्तहान की समस्या हल हो जायगी। थोड़ी देर के बाद मैं प्रसन्नचित्त वहाँ से बिदा हुआ। अब मुझे पूर्ण विश्वास था कि मैं अगले साल अवश्य पास हो जाऊँगा।

(४)

शाह साहब ने सबसे पहले तो मुझे अपना चेला बनाया और इस बखेड़े में मेरे पाँच रुपये ख़र्च हुए जो चलते समय मेरी मँगेतर ने दिए थे, क्योंकि वह रईस की बेटी थी और मेरे पास कानी कौड़ी भी न थी। जब मैंने शाह साहब से अपने संकट का हाल कहा तो उन्होंने मुस्करा कर कहा—"अभी क्या जल्दी है, जब इम्तहान क़रीब आये तो हमारे पास आना।"

... ...

साल भर हमारा बुरी तरह बीता। मुंशीजी बात-बात पर मुझे मारते थे और हड्डी-पसली एक किये देते थे। चूँकि शाह साहब के पास जब मैं जाता था तो अपनी सफलता का विश्वास और भी दृढ़ हो जाता था, अतः स्वभावतः पढ़ने की ओर ध्यान कम जाता और इसका परिणाम यह होता कि और भी पिटता। इस वर्ष मैं आवश्यकता से अधिक पिट रहा था। यहाँ तक कि तंग आकर मुझे शाह साहब से, पिटने से बचने का जन्त्र लेना पड़ा। इस जन्त्र ने मुझे पढ़ने की ओर से और भी उदासीन कर दिया और परिणाम यह हुआ कि इतना पिटने लगा कि मैं समझा कि जन्त्र शाह साहब ने कहीं भूल से उलटा तो नहीं दे दिया। अतएव जन्त्र खोलकर अलग रक्खा और कुछ पढ़ने में अधिक मन लगाने लगा तब कहीं जाकर मार पड़नी कम हुई।

जब मेरे इम्तहान के दो महीने रह गये तो मैं शाह साहब के पास गया। उन्होंने मुझसे कहा कि तुम चालीस दिन का जलाली चिल्ला खींचो

अर्थात् चालीस दिन तक प्रेतों के वश में करने के लिए कड़ा मन्त्र जपो। चिल्ले के विषय में मुझे समस्त बातों का निर्देश दिया। यह चिल्ला एक अकेले मकान में खींचा जाने को था और इसके लिए मुझे बीस रुपये की आवश्यकता पड़ी जो मैंने अपनी मँगेतर से लिये।

मैं घर से ऐसा ग़ायब हुआ कि गाँव भर में सिवा मेरी मँगेतर के किसी को भी पता न चला कि मेरा क्या हुआ। मैंने शहर में जाकर सिर घुटाया, एक छोटा-सा घर एक सुनसान-सी गली में किराये पर लिया और चालीस दिन की ख़ुराक के लिए जौ पिसवा कर रख लिये। ईंधन भी काफ़ी रख लिया। चालीस दिन तक मैं जौ की रोटी के अतिरिक्त और कुछ न खा सकता था। एक भिश्ती को मैंने लगा लिया और तय कर लिया कि वह तीसरे दिन पानी भर जाया करे और शुक्र के दिन नाई बुला लाया करे, क्योंकि इस बीच सिर का घुटा होना अत्यन्त आवश्यक था। मैं चिल्ला शुरू करने के पहले शाह साहब से एक बार और मिला और उन्होंने मुझे दोबारा सब निर्देश देने के बाद कुछ प्रेतों का हाल भी सुनाया।

... ...

मैं बिस्मिल्लाह करके घर में घुसा और अपने हमराज़ भिश्ती को ताला और कुंजी दी कि बाहर से बन्द करके ताला चढ़ा दे जिसमें किसी को संदेह न हो और लोग यही समझें कि मकान खाली है। भीतर पहुँचकर मैंने ज़मीन साफ़ की और उसको लीपा-पोता। फिर साफ़ चूने से तीन घेरे अर्थात् तीन कुण्डलियाँ बनाईं। एक सबसे बड़ी, उसके भीतर एक उससे छोटी और और उसके भी भीतर एक उससे छोटी। और सब से छोटी कुण्डली के अन्दर मैं नहा-धोकर सिर झुकाकर बैठ गया और 'या बुद्धू' का मन्त्र जपना शुरू कर दिया।

... ...

मेरा मन्त्र बड़े मज़े में जारी था। तीन दिन की रोटी मैं एक दिन पका लेता, दिन और रात मेरा मन्त्र के जाप में बीतता। जब नींद आती तो उस घेरे के भीतर ही सो जाता। हर समय पवित्र रहता और नियत समय और आवश्यकता के अतिरिक्त घेरे से बाहर न निकलता था। भिश्ती आता

और चुपचाप पानी भर कर चला जाता और नाई भी इसी प्रकार सिर मूँड़ कर चला जाता। बातचीत की कड़ी मनाही थी और मैं संकेतों ही से काम लेता था। दिनों की गिनती के लिए प्रतिदिन उठकर दीवार पर कोयले का एक चिन्ह खींच देता था।

जैसे-जैसे दिन बीतते जाते थे, मेरा हृदय प्रकाशित और आलोकित होता जाता था। प्रारम्भ में तो दो-तीन दिन मुझे डर भी लगा क्योंकि चारों ओर घोर सन्नाटा होता था और मैं बिलकुल अकेले कड़वे तेल के दिये की मंद ज्योति में अपना मन्त्र जपता रहता था। किन्तु अब भय बिलकुल न लगता था बल्कि रात की निस्तब्धता मन को और भी दृढ़ बनाती हुई प्रतीत होती थी।

अभी तक मुझसे किसी प्रेत का सामना नहीं हुआ था किन्तु मैं अब इसके लिए भी तैयार था। एक दिन एक छिपकली इस धृष्टता के साथ मेरे बिलकुल निकट आई कि मुझे कुछ संदेह हुआ क्योंकि शाह साहब ने मुझसे कह दिया था कि प्रेत जानवरों का रूप धारण करके भी आ सकते हैं, अतः मैंने जैसे ही एक मन्त्र पढ़कर उसी ओर फूँका तो उस छिपकली-रूपी प्रेत को भागते ही बन पड़ा।

(५)

पाठकों को मालूम ही है कि मैं घर से इस तरह गायब हुआ था जैसे गधे के सिर से सींग। मेरे लापता हो जाने पर मेरे पिता जी, चाचा जी और मुंशी जी ने बहुत कुछ ढूँढ़ा किन्तु न पाया। मुंशी जी ने सोच रक्खा था कि जब इम्तहान को दो महीने रह जायँगे तो मेरे ऊपर विशेष ध्यान दिया जायगा। मेरी माता जी का एक ही सप्ताह में बुरा हाल हो गया और उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि मुंशी जी की सख्ती से तंग आकर मैंने आत्महत्या कर ली है अतः उन्होंने रो-रो कर घर सिर पर उठा लिया।

मुझसे शाह साहब ने कहा था कि संभव है तुमको चिल्लाकशी के बीच भूत-प्रेत सतायें। उन्होंने कहा था कि प्रेत दिन को भी आ सकते हैं और रात को भी। कभी तो वे जानवरों के वेश में आते हैं और कभी मित्रों तथा

सम्बन्धियों का रूप धारण करके आते हैं और तरह-तरह की हरकतें करते हैं। उनका मतलब यह होता है कि वह किसी प्रकार मन्त्र-जाप में बाधा डालें। कभी वह धमकियाँ देते हैं और कभी डराते-धमकाते हैं, किन्तु हानि वह बिलकुल नहीं पहुँचा सकते उस समय तक, जब तक कि घेरे खिंचे हों। उन्होंने यह भी कहा था कि प्रेत कई प्रकार के होते हैं। जो निम्नकोटि के होते हैं और बुरी-बुरी शक्लें बनाते हैं वह तो तीन घेरों में से एक के भीतर भी नहीं आ सकते। आना तो बड़ी बात है कहीं लकीर पर उनका पैर भी पड़ जाय तो जलकर भस्म हो जाते हैं। दूसरी श्रेणी के प्रेत वह हैं जो पहले और दूसरे घेरे में तो आ सकते हैं, किन्तु तीसरे घेरे में नहीं आ सकते। लेकिन प्रथम श्रेणी के जो प्रेत हैं। वे चूँकि स्वयं विद्वान् होते हैं और कुछ उनमें से चिल्ला भी खींचे हुए होते हैं अतः वे सगे-सम्बन्धियों का रूप धारण करके आते हैं और कभी-कभी वे तीसरे घेरे में भी पाँव रख देते हैं। ऐसी अवस्था के लिए शाह साहब ने मुझे एक दूसरा मन्त्र बताया था कि जब ऐसा हो तो तीसरे घेरे के अंदर अपने चारों ओर एक चौथा घेरा उँगली ही से खींचकर मन्त्र पढ़कर प्रेत की ओर फूँक देना। और वह चले जायँगे।

....

मेरा मन्त्र अब समाप्त होने ही को था और महीने भर से अधिक हो चुका था। सिवाय उस प्रेत के जो मेरे पास छिपकली के रूप में आया था और कोई भूत-प्रेत नहीं आया।

शुक्रवार का दिन था। मैंने उठकर दीवार पर उन्तालीसवीं रेखा खींची। कल चालीसवें दिन चिल्ले की समाप्ति और कामना का था। यानी चिल्ला समाप्त होने पर मैं जो भी कामना करूँगा वह पूरी होगी। पास होने की कामना के अतिरिक्त अब मैं यह सोच रहा था कि क्यों न कोई दूसरी कामना भी उसी में सम्मिलित कर लूँ, परन्तु फिर यह सोचा कि शाह साहब ने कहा था कि केवल एक ही कामना के लिए चिल्ला खींचा जाता है और यद्यपि कई कामनायें एक साथ मिला लेने में विशेष हर्ज़ नहीं किन्तु आशंका अवश्य होती है क्योंकि कामना एक ही पूरी होती है। बहुत सोच-विचार के बाद मैंने निश्चय किया कि मैं दो कामनाओं की पूर्ति के लिए अल्लाह से

प्रार्थना करूँगा। एक तो अपने पास होने की और दूसरी अपनी मँगेतर से विवाह की। चाहे कोई भी पूर्ण हो, बात एक ही है।

गरज मैंने उस दिन सिर घुटवाया और नहा-धोकर प्रसन्नचित्त अपना मंत्र-जाप शुरू कर दिया।

दिन चढ़ रहा था और वास्तव में इसी समय अल्लाह चिल्ला खींचने वालों की प्रार्थना सुनने की ओर ध्यान देते हैं और मन्त्र पूरे वेग से पढ़ा जाता है। ठीक दोपहर का समय हो गया। मैं अपने मन्त्र-जाप में इतना तन्मय था कि तन-बदन की सुध नहीं थी। इस सन्नाटे की हालत में एकदम से मेरे कानों में आवाज़ आई "क्यों बे वह क्या ढकोसला ?" मैंने छत की ओर देखा और जब कुछ न पाया तो मेरे कान खड़े हो गये। मन में कहा कि प्रेत आ गये, फिर आवाज़ आई। अब क्या देखता हूँ कि सामने मकान की दीवार पर मुंशी रामसहाय खड़े हैं। मैं जान गया कि प्रेत आ गये और मैंने माला तेज़ी से फेरना शुरू किया और बजाय उत्तर देने के मैं दीवार की ओर देख रहा था। इतने में क्या देखता हूँ कि पिता जी भी दीवार पर आ गये। ने बराबर मन्त्र-जाप कर रहा था पर मैं मन में अवश्य हँसा कि ये प्रेत मुझे उल्लू बनाते हैं। भला ये मेरा कर ही क्या सकते थे। मैं जानता था कि प्रेत प्रथम श्रेणी के हैं जो आश्चर्य नहीं कि तीसरे घेरे में घुस आयें। मुंशी रामसहाय वृद्ध आदमी थे और जब उन्होंने तीन बार और डाँटा और मैंने कुछ न सुना तो वे दीवार पर चलकर पाखाने के पास पहुँचे और वहाँ से उतरने लगे। मैंने मन में कहा कि मुंशी रामसहाय का वेष तो इस प्रेत ने निस्सन्देह बड़ी सफलता के साथ बदला है, यहाँ तक कि आवाज़ भी बिलकुल मिला दी है पर इसने यह न सोचा कि भला एक वृद्ध आदमी किस तरह इतनी तेज़ी से दीवारों पर चल सकता है। साराश यह कि ये दोनों प्रेत जो मेरे पिता जी और मुन्शी रामसहाय का वेष बदले हुए थे, पाखाने में से उतरकर मेरे निकट आ खड़े हुए किन्तु मैं उसी तरह मन्त्र के जाप में तन्मय था। मैं बड़े ग़ौर से मुंशी रामसहाय-रूपी प्रेत को देख रहा था जो कोई गड़बड़ी करने की तैयारी करते हुए दूसरे प्रेत को देखकर हँस रहा था। पर मैं मन में कह रहा था कि आओ मैं दोनों के लिए तैयार हूँ।

मेरे देखते-देखते मुंशी जो रूपी प्रेत ने एकदम से हँसना बन्द किया और ज़ोर से डपटकर "अबे पाजी" कहते हुए घेरे में डग रख दिया। फिर दूसरे घेरे में पाँव रखा। मैं तुरन्त समझ गया कि यह अवश्य ही प्रथम श्रेणी का चिल्लाकश (सिद्ध) प्रेत है और तीसरे घेरे में भी घुस आयेगा। मैंने फुर्ती से उँगली से चौथा घेरा बनाया और विशेष मन्त्र पढ़कर उस धृष्ट प्रेत की ओर जो मुँह बढ़ाकर फूँका तो मेरे मुँह पर इस ज़ोर का एक चाँटा पड़ा कि मेरा मुँह फिर गया। मैं कुछ सोचने भी न पाया था कि मेरा कान उस भयानक प्रेत के हाथ में था और मेरी ताज़ी घुटी हुई खोपड़ी पर मुंशी रामसहाय का जूता बज रहा था। तड़ातड़, तड़ातड़ दो-तीन जूतों तक तो मैं यही समझा कि यह प्रेत है और मैंने मन्त्र का जाप बन्द नहीं किया। पर जूता इस ज़ोर का पड़ रहा था कि तुरन्त ही वास्तविकता प्रकट हो गई। अर्थात् यह कि वास्तव में असली रामसहाय बड़ी बुरी तरह मेरा सिर गंजाकर रहे थे और बराबर वह कह रहे थे कि—'तूने मुझे बदनाम किया, तू इम्तहान के दिनों में भाग आया, यह सब तेरे नालायक बाप का क़ुसूर है, आज तुझको ज़िन्दा न छोड़ूँगा, आख़िर यह तू क्या कर रहा था! इत्यादि, इत्यादि।'

मुझे भिश्ती का नाम और पता बताना पड़ा जिसके पास कुंजी थी। बाहर जो इक्केवाला खड़ा था वह भिश्ती के पास से कुंजी लाया और हम लोग इक्के पर बैठकर अपने गाँव की ओर चले। जब मार की पीड़ा कुछ कम हुई तो मुझको अवकाश मिला कि अपने भाग्य को रोऊँ। यह तो मुंशी जी को बता ही चुका था कि यह मन्त्र इम्तहान में पास होने के लिए पढ़ा जा रहा था। अब मैं अपने मन में यह सोच रहा था कि भला मुझसे बड़ा अभागा कौन होगा कि जब सिद्धि प्राप्त होने में केवल एक दिन रह गया तब मुंशी जी ने आकर यह सितम ढाया। मेरा चिल्ला बीच ही में टूट चुका था और मुझे भय था कि कहीं मेरा जलाली मन्त्र अपूर्ण रह जाने के कारण मेरे ऊपर इस मार के अतिरिक्त जो पड़ चुकी थी कोई और विपद् न लाये। क्योंकि मुझसे शाह साहब ने कहा था मन्त्र अपूर्ण रह जाता है तो बहुधा लौट पड़ता है और फिर अनेक कष्ट देता है।

मैं घर पर पहुँचा तो मेरी माता जी ने मुझे गले से लगाया और खूब

रोईं। उन्होंने सब हाल सुनकर कहा कि तूने मुझे क्यों न बताया मैं तेरे लिए इससे बढ़कर मन्त्र पढ़वा देती।

पर मुंशी जी का यह हाल था कि दाँत पीस-पीसकर मेरे ऊपर दौड़ पड़ते थे और मारते थे। अब इम्तहान को केवल तीन दिन रह गये थे और इन तीन दिनों में मुंशी जी ने मेरे ऊपर वह अत्याचार किये कि मुझे विश्वास हो गया कि अवश्य ही मेरा मन्त्र मुझ पर लौट पड़ा और अब मेरी कुशल नहीं। गरज़ जो कुछ भी इस अल्प समय में सम्भव था वह मुंशी जी ने किया और मुझसे इम्तहान दिलवाया। परीक्षा-फल प्रकाशित हुआ। अब तक तो मैं केवल गणित में फेल हुआ करता था किन्तु इस बार प्रत्येक विषय में फेल रहा।

मुंशी रामसहाय का इक्का समय पर पहुँचा और उन्होंने उतरते ही मुझे मारते-मारते अधमरा कर दिया और फिर स्वयं बैठकर रोने लगे। मेरे पिता जी ने जब अपने पूज्य गुरु जी को रोते हुए देखा तो उनकी आँखों में .खून उतर आया। "आज तुझे मार डालूँगा।" यह कहकर वे मेरे ऊपर टूट पड़े और मारते-मारते बेसुध कर दिया। मुझे होश हुआ तो मैंने देखा कि मेरी माता और दादी मेरी सेवा-सुश्रूषा कर रही थीं और पिता जी तथा मुंशी जी को बुरा-भला कह रही थीं।

दूसरे ही दिन से मुझे .खूब घी-दूध मिलने लगा और मैं और भी बन गया। झूठ मूठ दुर्बल बना रहा। गरज़ कई दिन घर से बाहर न निकला क्योंकि वह यम के दूत अर्थात् मुंशी जी मौजूद थे।

...　　...　　...

जब मैं ठीक हो गया तो बाहर बुलाया गया और मुंशी जी ने मुझसे कहा—"तूने जो चिल्ला खींचा था वह तो झूठा निकला, अब मेरा बताया हुआ चिल्ला खींच।" मैं समझा कि सचमुच कोई चिल्ला होगा। राज़ी हो गया।

मुंशी जी ने कहा—"मेरा चिल्ला बड़ा कठिन है, अच्छा खाना, अच्छा पहनना और खेल-कूद आदि सब बन्द हो जायगा। पर तू पास अवश्य

हो जायगा।" मुंशी जी ने मेरी पीठ ठोंकी और कहा—"बस कल से चिल्ला शुरू है।"

दूसरे दिन से मुंशी जी ने अपना कठिन चिल्ला शुरू करा दिया। सुबह से शाम तक उन्होंने कूट-कूटकर मुझे पढ़ाया और खाने को केवल उबली हुई दाल और रोटी दिलवाई। यही उनका चिल्ला था। मालूम हुआ कि मुंशी जी उस समय तक यहीं रहेंगे जब तक कि गर्मियों की छुट्टी समाप्त होने के बाद स्कूल न खुलेगा। क्या कहूँ कि मैं कैसे संकट में फँसा था। दिन-रात मुंशी जी मुझे बाहर रखते और मार-मारकर पढ़ाते और फिर यह ज़ुल्म देखिए कि भोजन बहुत ख़राब दिलवाते। मैं छुट्टी को तरस गया क्योंकि मुंशी जी मुझे किसी भी समय नहीं छोड़ते थे। रात को भी चारपाई से चारपाई मिलाकर सोते और लेटे-लेटे ज़बानी प्रश्नों से तंग करते और उत्तर न मिलने पर तुरन्त छड़ी रसीद करते। बारम्बार वे यही कहते कि मेरे चिल्ले की यही शर्त है।

जब स्कूल खुला तब मुझे मालूम हुआ कि अब नई मुसीबत आनेवाली है। यानी मैं बजाय घर पर पढ़ने के मुन्शी जी के घर पर रक्खा जाऊँगा। मेरे प्राण सूख गये। सारांश यह कि मैं मुंशी जी के घर पहुँचा जहाँ मेरे ऊपर दिन-रात मार पड़ती थी और पढ़ाया जाता था।

बड़ी मुसीबत थी। सिवाय दाल के कुछ खाने को न मिलता था। क्योंकि चिल्ले के बीच इसका निषेध था। यदि मेरे घर से कोई बढ़िया चीज़ आती तो पिता जी उल्लू और गधे बनाये जाते और वह चीज़ कुत्ते को डाल दी जाती, पर मुझे न मिलती क्योंकि मुंशी जी कहते थे कि—"यदि कोई चीज़ भी तूने खा ली तो चिल्ला बिगड़ जायगा।"

(७)

पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं कि इस चिल्लाकशी का क्या परिणाम हुआ होगा। मैं केवल अपने स्कूल या ज़िले ही में नहीं बल्कि पूरे प्रान्त में प्रथम रहा। मेरे पास होने की ख़ुशी में मुंशी जी आये और एक ज़ोर का चाँटा मारकर कहा कि यदि तू अबकी बार भी फ़ेल हो जाता तो तुझे मार ही डालता और खुद भी मर जाता। गरज़ मेरे पास होने की ख़ूब

ख़ुशी मनाई गई और ख़ूब मिठाई बटी और मुंशी जी को कपड़े और रुपये भेंट किये गये।

मेरी इस शानदार विजय का सारे गाँव में डंका बज गया और प्रत्येक आदमी मेरी प्रतिभा का क़ायल हो गया—विशेषकर मेरे श्वसुर जी। बड़ी जल्दी मेरा विवाह किया गया जिसमें मुंशी जी भी शरीक़ हुए। मैंने वास्तव में विवाह के दिन सन्तोष की साँस ली जब कि मुंशी जी ने मुझे गले से लगा-कर पक्का वादा किया कि अब तुझे कभी न मारूँगा।

... ...

मैंने विवाह के बाद अपनी पत्नी से सख़्त शिकायत की कि तूने और तेरे शाह साहब ने मुझे ऐसी सलाह दी कि पूरा वर्ष मुझे पिटते ही बीता।

कुछ भी हो। मेरी सलाह है कि यदि कोई महाशय जलाली चिल्ला खींचे और यदि प्रेत आयें तो कम से कम मन्त्र पढ़कर फूँकते समय अपना मुँह कुछ दूर ही पर रक्खें नहीं तो इस ज़ोर का चाँटा पड़ने का ख़तरा होता है कि उसका असर आजीवन बाक़ी रहेगा।

ग़लत-फ़हमी

मैं चार बजे की गाड़ी से घर लौट रहा था। दस बजे की गाड़ी से एक जगह गया था और चूँकि उसी दिन लौटना था, इसलिए मेरे पास सामान आदि कुछ नहीं था। केवल एक स्टेशन रह गया था; गाड़ी रुकी तो मैंने देखा कि एक साहब सेकण्ड क्लास के डिब्बे से उतरे। उनका क़द सच जानिये, छः फ़ुट से कम नहीं था। बड़ी-बड़ी मूँछें रोबदार चेहरे पर हवा से हिल रही थीं। नेकर और क़मीज़ पहिने हुए पूरे पहलवान जान पड़ते थे! वह किसी की प्रतीक्षा कर रहे थे। दूर से उन्होंने एक आदमी को (अपने नौकर को) देखा। देखते ही देखते उनका चेहरा क्रोध से लाल हो गया। मैं बराबरवाले ड्योढ़े दर्जे में बैठा था।

एक साहब ने उनकी भयंकर सूरत देखी और आप ही कहा—"यह ख़ूनी मालूम होता है!"

मैंने उनकी ओर देखा और फिर उन भयावनी शक्लवाले महाशय के क्रुद्ध चेहरे को देखा मन ही मन उनकी राय का समर्थन किया। विश्वास करें कि उनकी आँखों से लपटें निकल रही थीं और नौकर के आते ही इस ज़ोर से उन्होंने उसको एक क़दम आगे बढ़ कर डाँटा कि वह डर कर एकदम से पीछे हटा और गार्ड साहब से, जो उसके बिलकुल पास ही थे, लड़ते-लड़ते बचा। गार्ड साहब सीटी बजाना छोड़ कर, एक ओर को हो गये। उन्होंने एक खिसियाई हुई निगाह नौकर पर डाली और फिर उन महाशय की तरफ़ देखा। दोनों मुस्कराये। गाड़ी चल दी !

....

गाड़ी स्टेशन पर रुकी और मैं उतरा। वह महाशय भी उतरे। आप विश्वास करें कि मैं समझा कि मुझे कोई बला लिपट गई, जब उन्होंने एक-दम मे मुझे 'हा' करके लिपटा लिया। वास्तव में उन्होंने कहा था—"तुम कहाँ ?" यदि उनकी तोंद कुछ नर्म न होती, तो शायद मेरी एकाध पसली अवश्य टूट जाती। छूटते ही पकड़ लिया और हँस कर बोले, "अब तुम्हें नहीं छोड़ेंगे।"

यहाँ यह कहना उचित समझता हूँ कि मुझको व्यर्थ की बकवास से जितनी नफ़रत थी (अब नहीं है) उतनी किसी चीज़ से न थी। देखता था कि लोग बातें कर रहे हैं। ख्वाम-ख्वाह एक दूसरे की बात काट रहा है और हर आदमी की यही कोशिश है कि सब लोग गुमसुम होकर मेरी ही बात सुनते रहें। कभी-कभी मेरी असाधारण ख़ामोशी पर आपत्ति होती; मुझसे शिकायत की जाती कि मैं बातों में दिलचस्पी नहीं ले रहा हूँ; मैं मन ही मन कुढ़ता और भरसक मौन रहता।

ऐसी हालत में जब कि मेरा यह स्वभाव हो, जब उन्होंने मुझे पकड़ कर कहा—'अब तुम्हें नहीं छोड़ेंगे,' तो सम्भव था कि मैं ख़ामोशी से काम लेता, किन्तु यहाँ तो बिना बोले काम ही नहीं चल सकता था। किन्तु इसके पहले कि मैं कहता कि जनाब आप कौन साहब हैं और मुझको क्यों पकड़ा है, आख़िर मुझको क्यों न छोड़ेंगे और कैसे न छोड़ेंगे, उन्होंने बिना मेरा जवाब, या मेरी बात सुने हुये बातचीत के सिलसिले को जारी रक्खा—"तुम

बहुत दिनों बाद मिले हो—कहाँ थे····कैसे हो···वालिद साहब (पिताजी) तो अच्छे हैं····और लोग कहाँ हैं····?····अबे नालायक़····नामाकूल यह देख···यह देख! आँखें खोल····अरे आँखें खोल कर····"

मुझसे बातें करते-करते वह नौकर पर बिगड़ने लगे थे। और जब उसकी ओर एक बार उन्होंने अपनी तोंद बढ़ाई, तब मेरा यह सन्देह दूर हुआ कि वह मुझ पर नहीं बिगड़ रहे थे। वास्तव में न उन्हें मेरे उत्तर की आवश्यकता थी और न मुझ में हिम्मत। कुछ लोग सचमुच हाज़िर-जवाब होते हैं। काश, मैं भी वैसा ही होता, तो शायद उनके एक सवाल के बाद और दूसरे सवाल से कुछ पहले मज़े से ताँगे में बैठा हुआ अपने घर की तरफ़ जा रहा होता। मैं अब ज़रा अपने आपको संभाल कर उनसे भ्रम-निवारण करने के लिये शब्द खोज रहा था और इसमें मुझे काफ़ी कामयाबी होती भी प्रतीत होती थी। क्योंकि 'माफ़ कीजियेगा, मैंने पहिचाना नहीं' तो बहुत उपयुक्त शब्द थे, जो मुझको मिल गये थे। और मैंने कहा—"माफ़ कीजियेगा····"

पर उन्होंने बात काट कर तुरन्त कहा—"जी नहीं···यह नामुमकिन है।" और फिर इसी सिलसिले में कहा—"असबाब नहीं है!" और जवाब का इन्तज़ार किये बिना, फिर आप ही आप उन्होंने कहा—"शायद दिन भर के लिये आये होगे। ख़ैर, कोई हर्ज़ नहीं। अब दो-तीन दिन तुम्हें न छोड़ूँगा।" एक ठहाका लगाया और बड़े ज़ोर से कहा—"मैं नहीं छोड़ूँगा, नहीं छोड़ सकता।"

मैंने मन में सोचा कि भागूँ—हाथ छुड़ाकर; पर एक तो मेरी पतली कलाई फ़ौलादी पंजे में थी और फिर स्टेशन की भीड़; सोचा कि सफलता न मिलेगी!

मेरा हाथ पकड़े मुझको ले जाकर उन्होंने अपने साथ गाड़ी पर बैठाया। गाड़ी पर बैठते समय मैं ज़रा रुका कि कहूँ, 'जनाब, आप मुझको क्यों और कहाँ लिये जाते हैं?' मैंने ज़रा गला साफ़ करके कहना चाहा था कि उन्होंने हाथ पकड़ कर जैसे ज़बरदस्ती गाड़ी में बैठा दिया और स्वयं भी बैठ गये।

बैठते-बैठते कहने लगे—"मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगा...वालिद साहब तो ख़ैरियत से हैं न?"

मैंने कहा—"ख़ैरियत से हैं और...."

वह बात काट कर बोल उठे—"और सब?" और फिर कहा—"सब अच्छी तरह हैं....अरे मियाँ, यह क्या वाहियात बात है, सुना है कि तुम्हारे वालिद ने एक और शादी कर ली है। यह ख़बर कहाँ तक सही है?"

"इलाही ख़ैर!" मैंने मन में कहा—क्योंकि मेरी माँ की मृत्यु बहुत दिन पहले हो चुकी थी। लेकिन फिर भी ख़ुदा की मेहरबानी से दो-दो माताएँ मौजूद थीं। क्या यह सम्भव है कि अब्बाजान को आबादी पसन्द तबीअत ने...या फिर, मुझ जैसे बिना माँ के बच्चे के हाल पर तरस खाते हुए दो माताओं को काफ़ी न समझते हुए उनमें एक की और वृद्धि की हो। मैंने कुछ हकलाते हुए कहा—"मैं...मुझे नहीं मालूम।" और सहसा मैंने सोचा कि इन महाशय को शायद मैंने पहिचाना नहीं। और इनकी सब बातें कहीं उचित तो नहीं। आख़िर क्यों न मैं माफ़ी माँग कर, भविष्य के लिए परिचय प्राप्त कर लूँ? पर मेरे कम बोलने (अब तो बहुत बोलता हूँ) और सवाल करने के बचने की आदत...(अब तो तुरन्त सवाल करता हूँ)...का ख़ुदा भला करे, यह मुझमें कमज़ोरी थी। मैंने तुरन्त अनुभव किया कि यह तो ऐब है, जिसको मैं गुण समझता रहा। किन्तु कहीं इन बातों के विषय में सोचने से वाक्-शक्ति थोड़े ही आ जाती है।

मैं यही सोचता रहा कि अब इनसे मामला साफ़ करूँ और अब पूछूँ कि गाड़ी एक कोठी के फाटक में दाख़िल हो गई। मुझे बहाना मिला और सोचा कि अब इतमीनान से इनसे माफ़ी माँगूँगा कि महाशय मैंने आपको नहीं पहिचाना। गाड़ी बाग़ में दाख़िल हुई और वह महाशय बोले—"पिछली बार जब तुम आये थे, तो तुमने वह अंगूर की बेल न देखी होगी...इसकी जड़ में तीन बन्दरों के सिर गड़वाये हैं।"

मैं भला, इसका क्या उत्तर देता? क्यों ज़िन्दगी में पहली बार यहाँ आया और वह भी पकड़ा हुआ। आश्चर्य के साथ मेरे मुँह से निकल गया—"बन्दर!"

उन्होंने कुछ गर्व के साथ शायद इसी आशा से कहा कि मैं उनसे आश्चर्य के साथ पूछूँ कि साहब, बन्दरों ने क्या ख़ता की, जो उनके सिरों के साथ यह निर्दयता पूर्ण व्यवहार किया ! और जब वह कुछ उचित कारण बतायें, तो मैं उनकी जानकारी पर चकित रह जाऊँ। शायद उन्होंने इसी ख़याल से कहा—"जी हाँ, बन्दर····बन्दरों के सिर !"

पर मेरे चुप रहने से उनकी आशा पर पानी फिर गया। और वह स्वयं बोले—"आपको पता नहीं....मैं दरअसल बाग़बानी पर एक किताब लिख रहा हूँ। बात यह है कि बन्दर के सिर की खाद अंगूर के लिये लाजवाब होती है।"

मैं भला, क्या कहता। दिल में सोचने लगा कि भविष्य में यदि अंगूर मिलें, तो खाऊँ या न खाऊँ !

बाग़बानी का ज़िक्र छोड़ कर उन्होंने कहा—"वह देखो, पर्सी की क़ब्र है।" अँगुली उठा कर उन्होंने एक चौखूँटे चबूतरे की ओर मुझे दिखाया।

अँगरेज़ों की क़ब्र मैं पहले भी कई बार देख चुका था। कोई नई बात नहीं थी। पर्सी, हाँ इस नाम से भी परिचित था। जो लोग भी अख़बार पढ़ते रहे हैं, वे सर पर्सी काक्स, ईराक़ के हाई कमिशनर के नाम और उनकी राजनैतिक चतुराई से परिचित होंगे। पर उनकी क़ब्र यहाँ कैसे ! उनके कोई सम्बन्धी होंगे शायद, मैंने सवाल करने बजाय अपनी आदत के अनुसार यह सोच कर सन्तोष कर लिया। हम बरामदे के पास पहुँच रहे थे, गाड़ी बिलकुल आहिस्ता-आहिस्ता चल रही थी। वह कहने लगे—"मुझे पर्सी के मरने का बहुत दुःख हुआ और एक दिन मैंने खाना नहीं खाया।"

मुझे पूरा विश्वास हो गया कि इनकी मिस्टर पर्सी से दोस्ती रही होगी। इतने में मैंने देखा कि एक छोटा-सा कुत्ता दौड़ता हुआ गाड़ी के पास पहुँचा।

बँगला अभी बहुत दूर था और यह मालिक के स्वागत को आया था। मैं ग़ौर से देख रहा था कि यह कटख़ना कहाँ तक हो सकता है कि वह बोले—"यह देखिये, यह ग़रीब रह गया और पर्सी मर गई। बड़ी लाजवाब कुतिया थी।"

इधर मैं चकित था, और उधर वह तारीफ़ के लहजे में कहने लगे—"आप यह ख़याल कीजिये कि इतनी सी कुतिया थी, पर अकेली कुतिया को मार डालती थी और फिर एक तारीफ़ और भी थी, वह यह कि अगर कहीं कोई अजनबी बङ्गले के अहाते में नज़र पड़ जाये, तो बस, उसकी ख़बर ही ले डालती थी।"

मैं चौंका। मन में कहा कि अच्छा हुआ, पर्सी मर गई। नहीं तो आज मेरा भी बुरा हाल करती। फिर सोचा कि यह कुत्ता भी तो उसी के साथ का है! मैं कुत्तों से बहुत डरता हूँ और विशेष कर नालायक कुत्तों से, जो यद्यपि कटखने न हों, पर दौड़ते हैं इस बुरी तरह कि आदमी के होश उड़ जाते हैं और वह गिर पड़ता है। मैंने पर्सी की क़ब्र की तरफ़ इतमीनान के साथ देखा और फिर कुत्ते यानी स्वर्गीया पर्सी के पति को देखा। इतने में गाड़ी बरामदे से आकर लगी, और मैंने देखा कि एक भयानक बुलडॉग अँगड़ाई लेकर उठा। इतने में हम दोनों उछल पड़े। छोटा कुत्ता तो दुम हिला-हिला कर अपने स्वामी के चरणों में लोट रहा था; पर यह गम्भीर महाशय यानी बुलडॉग साहब मेरे प्राण सुखाने में व्यस्त हो गये, अर्थात् बरामदे से उतर कर उन्होंने मुझे सूँघा। मेरी साँस रुक गई और चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं।

उन्होंने तुरन्त ताड़ लिया और मुस्करा कर कहा—"अजी, यह तो वही पुराना टामी है। बस, सूरत ही डरावनी है। काटना तो कमबख़्त जानता ही नहीं। बहुत किया इसने और बड़ी बहादुरी दिखाई, तो बस लिपट पड़ता है।" उन्होंने मेरी घबराहट पर एक ठहाका लगाया, क्योंकि मैं फाँद कर गाड़ी में पहुँच चुका था।

"लाहौल वला क़ूवत! कुत्तों से तुम्हारा डर नहीं गया। यह तो वही पुराना टामी है।" यह कहते हुए उन्होंने मुझे हाथ पकड़ कर गाड़ी से उतारा और मुझे तेज़ी से बेतकल्लुफ़ी के साथ कमरे में प्रवेश करना पड़ा। सौभाग्य से कुत्तों ने एक गिलहरी को देख पाया, जिसके पीछे वे ऐसा दौड़े कि दृष्टि से ओझल हो गये। मैंने सन्तोष की साँस ली।

... ...

पहुँचते ही उन्होंने आवाज़ दी—"खाना लाओ।"

ख़ुदा ख़ैर करे! मैंने दिल में कहा कि यह खाने का कौन समय है? बहुत जल्द हाथ धोये गये। इनकार से भला, वे काहे को मानते, अतः मैं चुप रहा।

खाने की मेज़ पर गर्म किया हुआ पुलाव, शामी कबाब, अण्डों का कोरमा और दूसरे खाने थे। मैं प्लेट के एक ओर से चावल उठा कर दूसरी ओर रख कर टीला-सा बनाने लगा और उन्होंने तेज़ी से चावल खाना—नहीं नहीं; मैंने ग़लत कहा, बल्कि चावल पीना शुरू किये। शायद वह चबाना नहीं जानते थे।

"आरिफ़ मियाँ कहाँ हैं?" चिल्ला कर उन्होंने नौकर से कहा—"उनको जल्दी बुलाओ।" और मेरी ओर मुस्करा कर कहा—"तुम्हारा भतीजा तो आया नहीं। नहा रहा होगा, नहीं तो वह ज़रूर मेरे साथ खाना खाता है।"

आप विश्वास करें कि मैंने इधर-उधर भागने की नीयत से देखा। भतीजा! यह शब्द मेरे लिये शेर शब्द से कम नहीं था और फिर खाना खाते समय जिसके एक न दो, बल्कि सगे-सौतेले सब मिलाकर साढ़े चौदह भतीजे हों, उससे पूछिये कि ऐसी दुनिया अच्छी, या नरक? ख़ुदा जाने, पापियों का कष्ट बढ़ाने के लिए वहाँ नरक में भी भतीजे होंगे कि नहीं! यदि मेरे भतीजे स्वर्ग में गये, तो मैं नरक में जाने को बहुत अधिक पसन्द करूँगा। मैं अतिशयोक्ति से काम नहीं लेता, क्योंकि चौदह-पन्द्रह भतीजे और सब एक जगह रहते हों, तो बेचारे चाचा का जो हाल होगा, उसका स्वयं अनुमान कर लीजिये! वैसे ही मेरी जान पर के चौदह-पन्द्रह भतीजों ने क्या कम मुसीबत में डाल रक्खी थी, जो यह एक और निकला? कोई आत्म-हत्या करता, तो मैं यह पता लगाने की कोशिश करता कि उसके कितने भतीजे हैं। एक हो तो ख़ैर, नहीं तो दो होने की हालत में तो मुझको आत्म-हत्या का कारण जानने में देर न लगती थी। भतीजा शब्द के मानी कुछ भी हों; पर मेरी समझ में यमदूत या उनके सेक्रेटरी का नाम भी भतीजा होना चाहिये। मैं इस फिलॉसफी पर विचार कर रहा था कि वे बोले—"तुम्हारे अब कितने बच्चे हैं?"

मैं इसका क्या उत्तर देता, क्योंकि मेरा विवाह ही नहीं हुआ; लेकिन शायद उनको जवाब की आवश्यकता ही न थी। क्योंकि तुरन्त ही उन्होंने मेरे जवाब की राह देखे बिना ही कहा—"तुम्हारे बीवी कहाँ हैं? तुम्हारे कितने बच्चे हैं?" उन्होंने बहुत ज़ोर देकर पूछा—"तुम्हारे कितने बच्चे हैं?"

विवश होकर मुझको असली बात बतानी पड़ी कि एक भी नहीं।

चावल का बड़ा-सा कौर, जो उन्होंने मुँह में रक्खा ही था "अरे" के साथ निगल कर बोले—"अरे....दोनों....दोनों बेचारे...यह आख़िर कब? भई, बात तो यह है कि ख़ुदा अगर बच्चे दे, तो ज़िन्दा रहें, नहीं तो उनका होना और फिर मर जाना तो....ख़ुदा की पनाह!"

ये शायद मेरे प्रति अपनी सहानुभूति का प्रदर्शन कर रहे थे; बोले—"तुम्हारी बीवी का न जाने क्या हाल होगा?"

आप स्वयं सोचिये कि मुझे भला, क्या पता कि वह लड़की किस हाल में होगी, जो भविष्य में मेरी पत्नी होगी और मैं स्वयं अनभिज्ञ था, तो भला, उनको क्या बताता कि उसका क्या हाल होगा, कि इसी बीच में वह आ गया। कौन? अजी वही यमदूत या नरक का सेक्रेटरी यानी मेरा मुँह-बोला भतीजा आरिफ़! मैं घबराया, क्योंकि वह तीर की भाँति पापा-पापा का नारा लगाता हुआ चला आ रहा था। मैं सँभल बैठा और बचाव के उपायों और सम्भावनाओं पर विचार करने लगा; परन्तु उसका रुख़ बदल गया। वह अपने पापा पर गिरा और तेज़ी से वह भी पुलाव पीने में व्यस्त हो गया।

पिता महाशय ने सुपुत्र से कहा—"तुमने चाचा को न तो सलाम किया और न टाटा किया,........टाटा करो।" कई बार फिर तक़ाज़ा हुआ—"सलाम करो, टाटा....करो···सलाम।" दूसरे शब्दों में मुझसे तक़ाज़ा हो रहा था कि भतीजे से बोलो। पर जनाब, मुझसे यह होना असम्भव था। एक तो वैसे ही मौन स्वभाव का आदमी था (अब नहीं) और भरसक बिना बातचीत किये ही काम निकालना चाहता था; फिर वैसे भी भतीजों को आशीर्वाद देने के ख़िलाफ़। यह न समझिये कि मैं ख़ुदा न करे, यह चाहता था कि वे मर जायँ। अजी, हज़ार वर्ष जीवित रहें; परन्तु मेरी दुआ की

उन्हें आवश्यकता न रहे तो अच्छा है। बार-बार के तकाज़े से तंग आकर अन्त में भतीजे साहब ने मेरी छाती पर कोदों दल ही डाली। यानी अपना सीधा हाथ जो पुलाव के घी में तर था, मेरे घुटने पर रख कर अपना बायाँ हाथ 'टाटा' के लिए बढ़ा दिया। मैं अवाक् रह गया। अपने साफ़ पतलून पर चिकनाई का धब्बा देख कर मेरी आँखों में ख़ून उतर आया, क्योंकि मेरे पास यही एक अच्छा पतलून था जिस पर भतीजों को कृपा-दृष्टि नहीं पड़ी थी। इधर तो मैंने घुटने पर से चावल साफ़ किये और उधर उन्होंने कहा—"हयँ, उलटे हाथ से।" काश, कि वह भतीजे महाशय पहले ही टाटा (मुसाफ़ा) के लिए दाहिना हाथ बढ़ाते और बायाँ शौक़ से मेरे घुटने क्या, गले पर रख लेते। मैंने लाचार होकर हाथ मिलाया और मन में कहा—'ज़ालिम, तूने मुझे बेमौत मार डाला! मेरे पास यही तो एक अच्छा पतलून था, जिसे तूने इस प्रकार ख़राब कर दिया!'

मैंने सन्तोष की साँस ली, जब कि यह भतीजे महाशय 'बिल्ला, बिल्ला, कह कर खाना छोड़ कर एकदम से भागे। या तो वह तेज़ दौड़ता ही होगा, या फिर यह बात बिलकुल सत्य है कि लाहौल पढ़ने से शैतान बुरी तरह भागता है। मैं लाहौल पढ़ रहा था और उसके प्रभाव का मन ही मन क़ायल हो रहा था।

"आपने हड्डी की तिजारत क्यों छोड़ दी?" उन्होंने एक हड्डी का गूदा निकालते हुए कहा।

पाठक सोचें कि हड्डी का व्यवसाय मैं छोड़ता तो तब, जब कि मैंने कभी यह व्यापार शुरू किया होता। कहना चाहा कि कहूँ—जनाब, मुझे भला हड्डी की तिजारत से क्या ताल्लुक? पर राम भजिये, वे अपने सारे सवालों के जवाब आरम्भ ही से स्वयं दे रहे थे, या फिर जवाब की प्रतीक्षा किये बिना दूसरा सवाल कर देते थे। मुझे भला, कोई सुवर्ण अवसर क्यों देते, जो मैं छुट्टी पाता। इसके पहले कि कौर ख़त्म करके उत्तर दूँ, उन्होंने कहा—"तिजारतवाला तिजारत ही करता है, हड्डी की न सही, पसली की सही।"

यह कह कर उन्होंने ज़ोरों का ठहाका लगाया। मैं उनके गले की गह-

राई पर विचार कर रहा था कि वह आ पहुँचा, यमदूत...वह ज़ालिम बल्ला हाथ में लिये हुए चिंघाड़ता हुआ और खाना शुरू करने के बजाय, बल्ले की तलवार बनाकर पैंतरे बदल-बदल कर नाचने लगा। वह मानो पटे के हाथ निकाल रहा था। मेरे मेज़बान या सैयद (बहेलिया) अपने कार्य में पूर्ववत् व्यस्त रहे। हाँ, यदि वह चावल पीने के स्थान पर खाते होते, तो हँसी के कारण उनके गले में अवश्य फन्दा पड़ जाता; क्योंकि उनकी समझ में खाना खाने में हँसी से कोई हर्ज नहीं होता। वे ख़ूब हँस रहे थे; कहने लगे—"ज़रा इस शरीर को तो देखिये।"

मैं इसका क्या उत्तर देता; क्योंकि देख तो रहा ही था और जानता था कि जो क्षण बीत रहा है, अच्छा है। बिनवट का क़ायदा है कि सारा खेल बस निगाह का होता है। शत्रु से जब तक आँख मिली रहे, या शत्रु की गति पर जब तक नज़र जमी रहे, उस समय तक ख़ैरियत है, नहीं तो इधर आँख झपकी और उधर मार खाई। अभी तक यह सुनता ही था, पर आज सिद्ध हो गया। दो बार उसका बल्ला मेरे सिर पर से होकर निकल गया, और यदि मैं सिर न बचाऊँ, तो सिर की कुशल नहीं थी। उन्होंने केवल 'हाय' कहा। मैं एकटक उस दुष्ट भतीजे की ओर देख रहा था कि मेरे मित्र मेज़बान ने मेरे कम खाने की शिकायत करते हुए कहा—"यह लीजिये, कबाब नहीं खाया।" इधर मेरी दृष्टि चूकी और उधर इस ज़ोर से मेरे मुँह पर बल्ला पड़ा कि मेरी नाक पिची हो गई; नहीं बल्कि मुझे ऐसा जान पड़ा कि शायद मेरी नाक ऐनक के साथ उड़ी चली गई। तुरन्त पहले तो मैंने अपनी नाक को देखा और उसको अपनी जगह पर मौजूद पाकर लपक कर मैंने ऐनक उठाई। भतीजे साहब भी गिर पड़े थे। ऐनक की एक कमानी टूट गई थी! 'या अली' कह कर उन्होंने अपने पटेबाज़ को सँभाला और मैंने अपनी ऐनक को।

"तुम बड़े नालायक हो।" डाँट कर उन्होने लड़के से कहा। मुझसे माफ़ी माँगो और फिर लड़के से कहा कि माफ़ी माँगो। यद्यपि मैं स्वयं उनसे माफ़ी और पनाह माँग रहा था। वह चुप हुआ तो कहा—"अच्छा, अब जाओ और अपनी अम्मी जान से कहना कि हामिद चचा आते हैं।"

इधर उन्होंने यह कहा और उधर मैं बेचैन हुआ, क्योंकि हामिद मैं बिल्कुल नहीं था। इधर मुझे अपना नाम मालूम हुआ और उधर मेरी तबीअत परेशान होने लगी।

... ...

भोजन करने के बाद हम बरामदे में आये, और मैं कुछ कहने ही को था कि उन्होंने एक बड़ा सिगार सुलगाया और दूसरा मुझे दिया। मैंने इनकार किया, तो आश्चर्य के साथ बोले—"अरे! तुमने छोड़ दिया! यह कैसे! पहले जब आये थे, तब तो ख़ूब पीते थे। भई वाह, कमाल कर दिया। बहुत अच्छा किया; भई, बहुत अच्छा किया। वाक़ई ख़राब चीज़ है।" फिर एक छोटा-सा लेक्चर तम्बाकू के नुक़सान पर देते हुये कहा—"अब तुम भी अचकन उतार कर ज़रा हाथ-मुँह धो डालो।"

वास्तव में हम दोनों बाहर से आने के बाद सीधे भोजन पर टूट पड़े थे। इतने में उन्होंने चिल्ला कर कहा—"अरे भई, टामी को क्यों बाँध दिया! कोई है!"

एक आदमी आ खड़ा हुआ। उससे उन्होंने पूछा—"टामी को क्यों बाँध दिया!"

उसने मेरी ओर इशारा करके कहा—"आपकी वजह से.........।"

उन्होंने कहा—"बकते हो, उसको फ़ौरन खोलो, यह वक्त कुत्तों के बाँधने का नहीं है।" फिर मेरी ओर देख कर कहा—"दरअसल यह वक्त तो ख़ास तौर से कुत्तों के खोलने के लिए है।....देख, छोटे कुत्ते को भी।" यह नौकर से कहा।

मैंने मन में कहा कि एक नहीं दो-दो मुसीबतें हैं। ख़ुदा ख़ैर करे! न जाने कुत्तों के मालिकों को कुत्तों के छोड़ने में क्या आनन्द आता है! यह नहीं देखते कि वह आने-जानेवाले पर दौड़ते हैं।

"आइये, बाग़ में चलें।" उन्होंने मुझसे कहा। झुटपुटे का समय था और मैं उठने ही को था कि एक बहुत सुन्दर युवती गुलाबी कपड़े पहिने निकलीं। मैंने देखा ही था कि "अरे" कह कर वह एकदम से लौट गईं। मेरे मेज़बान घबराये। इधर घूम कर देखा, हँसे और बोले—"आओ

भाई, आती क्यों नहीं हो?" दूसरी ओर करवट बदल कर मुझसे बोले—"बहुत दिन हो गये, शायद तुमको पहिचाना नहीं, तुम बहुत बदल भी तो गये हो।" मेरी तरफ़ बड़े ग़ौर से देख कर बोले और फिर कहा—"अरे आती क्यों नहीं हो···बड़ी अहमक़ हो।" यह कहते हुए उठे।

अब मेरे लिये भागने का बहुत अच्छा मौक़ा था, क्योंकि वह कमरे में गए। मैं चाहता ही था कि इस सुवर्ण अवसर का उपयोग करूँ कि क्या देखता हूँ कि वही भयानक कुत्ता टामी दोनों छोटे कुत्तों के साथ डाकगाड़ी की चाल से इसी ओर चला आ रहा है। या अल्लाह, मैंने सोचा—अब मैं क्या करूँ! एक तरफ़ से कुत्ते आए थे और दूसरी तरफ़ से बेगम साहिबा से मिलकर ग़लतफ़हमी दूर होनेवाली थी। अगर कुत्तों ने मुझको घेर न लिया होता, तो मैं भाग गया होता! यह सिर्फ़ एक बड़ा गमला फाँदने से सम्भव था। मैंने गमले की ऊँचाई पर नज़र डाली।

मैंने कुत्तों की ओर देखा, फिर गमले की तरफ़;···दिल में सोचा कि फाँद जाऊँगा और बाईं ओर से घूम कर अहाते की दीवार पर से निकल जाना मुमकिन है···वह आ गए···मैं जानता था कि यदि उन्होंने घूँसा मारा, तो मैं कलाई से रोकूँगा, कलाई तो टूट ही जायगी, पर मुँह बच जायगा। उन्होंने अपने जूते की चमक को देखा। मैंने कमरे की तरफ़ देखा कि बेगम साहिबा झाँक रही हैं कि नहीं।

"माफ़ कीजियेगा।" मेरे मेज़बान ने बड़ी नम्रता से कहा—"शायद ग़लतफ़हमी··मुझको ग़लतीफ़हमी हुई।"

मैंने सिर झुका कर कहा—"मुझको ख़ुद अफ़सोस है!"

"जनाब का नाम?" उन्होंने पूछा।

मैंने अपना नाम और पूरा पता बताया।

वह एकदम से बोले—"आपके वालिद साहब (पिताजी)····अफ़्फ़ोह! ····आपके वालिद साहब से तो मेरी बहुत पुरानी जान-पहिचान है, आपसे मिलकर बहुत ख़ुशी हुई।"

मैंने विदा चाही, तो उन्होंने रुकने का आग्रह किया। पर मैं न माना,

तो कहने लगे कि गाड़ी तैयार कराये देता हूँ। पर मेरा दुर्भाग्य कि मैं न माना। थोड़ी दूर तक बाग़ के पहले मोड़ तक वह मुझको विदा करने आये और फिर आने का वचन लिया। वह तो लौट गये और मैं तेज़ी से फाटक की ओर चला। मगर जनाब, वह अपने कुत्तों को अपने साथ न ले गए। वह दुम हिलाते और कान फड़फड़ाते मेरे पीछे चले आ रहे थे। मेरा जी घबराने लगा। मैंने अपनी चाल कुछ तेज़ की। कुत्ते भी तेज़ हुए। मैं और तेज़ हुआ, तो वे और भी तेज़ हुये; विवश होकर मैं भागा, तो वे भी भागे। अब मैं ऐसा सरपट भाग रहा था कि मुझको सिर पैर की ख़बर नहीं थी। नज़र कमज़ोर होने के कारण ऐनक लगाता था, बिना ऐनक के रास्ता धुँधला दिखाई देता था। फिर अँधेरा भी हो रहा था। पर जनाब, जिसके पीछे कुत्ते लगे हों, वह खाई-ख़न्दक़ नहीं देखता। कुत्तों से बचने के लिये मैंने जान तोड़ कोशिश की और फाटक की राह छोड़ कर एक तरफ़ अहाते की दीवार नीची देख कर उस तरफ़ भागा। कुत्ते अब केवल दौड़ ही नहीं रहे थे, बल्कि भौंक भी रहे थे। नर्म-नर्म कूड़े के ढेर पर मैं तेज़ी से चढ़ा और अपनी जान से हाथ धोकर ऐसा बेतहाशा भागा कि दीवार को बिना देखे फाँद गया। घूरे और कूड़े पर से लुढ़कता हुआ कोई पन्द्रह फ़ुट की गहराई में गिरा। बौखला कर उठा और गिरा। ऊपर देखा, तो यह देख कर सन्तोष हुआ कि कुत्ते ऊपर ही रुक गए हैं और फिर वहाँ से जैसे भी बन पड़ा, जान बचा कर ऐसा भागा कि सड़क पर आकर दम लिया।

खो गया

स्टेशन पर टिकट सँभालते हुए श्रीमतीजी ने कहा—"देखो, सफ़र लम्बा है और इण्टर क्लास की गड़बड़। कहीं खो न जाना फिर!"

मैंने ग़ौर से उस मूर्ख पत्नी को देखा। पुरुष के लिये क्या यह अपमान-जनक बात नहीं! अरे, ओ मूर्ख स्त्री, ज़रा सोच तो कि यह नक़ाब मुँह से उठा कर सिर पर डालते ही तेरे होश जाते रहे हैं, जैसे पर निकल आये!

मैंने कुछ बिगड़ कर कहा—"हम कोई बच्चा तो हैं नहीं।"

"माफ़ कीजिये।" श्रीमतीजी ने व्यंगात्मक स्वर में कहा—"जैसे आप कभी पहले खोये थोड़े ही हैं।"

मैं क्या बताऊँ कि मुझे कितना ग़ुस्सा आया। ज़रा, कोई इस भली स्त्री से पूछे कि नेकबख़्त, पहले तू यह बता कि तेरा मियाँ तुझे पहुँचाने जा रहा है या तू उसे पहुँचाने जा रही है ! वह तेरा ज़िम्मेदार है, या तू उसकी रक्षक और ज़िम्मेदार है ! मैं स्वीकार करता हूँ कि यात्रा में एक बार मुझसे लोटा खो गया; दो बार कुछ नकदी चोरी चली गई; एक दफ़ा कोई दुष्ट सोते में जूता लेकर चम्पत हो गया; और एक बार कोई अल्लाह का नाम लेकर बिस्तर ही लेकर लम्बा हुआ। एक दफ़ा टिकट खो गया, और एक स्टेशन पर संयोगवश मैं स्वयं रह गया। यह कहना कि ये सब चीज़ें न तो चोरी गईं, न रह गईं, बल्कि खो गईं, कहाँ तक ठीक है ! यह भी मैं माने लेता हूँ, परन्तु आप स्वयं न्याय करें कि मैं यह कैसे मान लूँ कि मैं भी रह नहीं गया, बल्कि खो गया था ! लहौल वलाक़ूवत ! कोई बैल बधिया हो गया, या ऊँट खच्चर हो गया, जो मैं खो गया। दुनिया-जहान के पति और अच्छे-अच्छे ग्रेजुएट सफ़र की गड़बड़ और चक्कर में स्टेशनों पर रह जाते हैं, तो क्या उनकी पत्नियाँ यही कहती फ़िरती होंगी सबसे कि पति महोदय खो गये ! मुझे उस मूर्ख पत्नी पर क्रोध आया, कि देखो तो इसके निकट रह जाने और खो जाने में कोई अन्तर ही नहीं है। अतः मैंने झल्लाकर कहा—"फ़िज़ूल बातें मत करो !"

(२)

दो कुली थे। श्रीमतीजी ने कहा था कि जल्दी से बैठेंगे, जिससे कहीं जगह न घिर जाय। मैंने उनकी राय का समर्थन किया था और दुर्भाग्य से रेल में शीघ्रता से बैठने तथा बैठाने का ज़िम्मेदार अपने को समझे हुए था। अतएव जैसे ही गाड़ी आई, कुलियों को जल्दी की ताक़ीद करके मैं ज़नाने इण्टर की ओर चला। अब इन बुद्धिमान पत्नी की मूर्खता देखिये। हम यह समझे कि हम प्रबन्धक हैं, और वे समझीं कि यह मूर्ख है, और मैं ज़िम्मेदार हूँ। परिणाम यह हुआ कि एक कुली को लेकर मैं पहुँचा ज़नाने इण्टर के

पास और दूसरे कुली को लेकर वे पहुँचीं मर्दाना दर्जे में। हम तेज़ी से असबाब जो रखवाते हैं, तो क्या देखते हैं कि दूसरा कुली और श्रीमतीजी ग़ायब। कल्पना भी न थी कि ऐसा होगा। कुछ प्रतीक्षा की और फिर उसी जगह आ गये लौट कर, जहाँ खड़े थे। पर कुछ फल न हुआ। वही मामला हुआ, जैसे घरवाली खो गई। इसका तो हमें सन्तोष है कि किसी बुद्धिमान के भाग्य ने यदि कहीं धक्का खाया, और वह उन्हें ले गया, तो न केवल वह इस झंझट को लेकर पछतायगा, बल्कि ख़ुशामद करके वापस ही करते बनेगा। ख़ैर!

अब मामला यह हुआ कि प्लेटफ़ार्म पर हम बौखलाये फिर रहे थे कि दूसरे कुली ने हमें पहिचान लिया और बताया कि मर्दाने इण्टर क्लास में सामान लगा दिया गया है। बाक़ी सामान भी लेकर वहीं चलिये। अतः पहुँचे हम। मालूम हुआ कि यहीं बैठना है। ख़ैर, कोई हर्ज नहीं। अकसर ऐसा करते हैं और कोई तकलीफ़ नहीं होती। सिर्फ़ किसी कानी-कुतरी सुन्दरी की ओर अवश्य नज़र उठाने का साहस नहीं होता। दो तेज़ और शक्की आँखें, दो अबोध तथा कमज़ोर आँखों पर पहरा लगाये रहती हैं। इधर किसी नकटी-चपटी स्त्री के पाँव के जेवर की आवाज़ छम्म से आई नहीं कि उधर श्रीमती जी आँखें बिना उस स्त्री को देखे हुए मेरी आँखों पर गड़ जाती हैं कि कहीं मैं उसे देख तो नहीं रहा हूँ।

सारांश यह कि शेष सामान भी यहीं आ गया। जगह काफ़ी थी, और अब हम जम कर बैठ गये निश्चिन्तता से। और फिर बहुत जल्द हमें यह भी मालूम हो गया कि ऐसा क्यों किया गया है। सिर्फ़ इसलिये कि न तो हम कहीं स्वयं खो सकें और न लोटा-ओटा फेंक सकें। फिर सब से बड़ा कारण यह बताया गया कि तुम्हें बार-बार पैसे-पैसे के लिये दौड़ कर के आना पड़ता।

हमने कहा कि 'हिन्दुस्तान टाइम्स' खरीदेंगे ताकि ताज़े समाचार पढ़ सकें। जवाब में हमें 'इलस्ट्रेटेड वीकली' दिया गया, जो पाँच-छः दिन का बासी था और कुली से पहले ही मँगवा लिया गया था। अब यह हुक्म हुआ कि "देखिये, इसमें ख़बरें!" यद्यपि स्वयं उन्हें ही उसके चित्र देखने

थे। हमने कहा कि यह पुराना है, तो जवाब मिला कि सब ठीक है। और फिर जब हमने ताज़े समाचारों के लिये कहा, तो जवाब मिला कि जल्दी क्या है। खबरें आगे चल कर किसी से पूछ लेना, नहीं तो कोई खरीदे, तो उससे माँग कर पढ़ लेना। चलिये, छुट्टी हुई। खैर सब्र किया और चुप हो रहा।

गाड़ी चली और बहुत जल्द पास बैठे हुये लोगों से हमने बातें करना शुरू कर दीं। एक गम्भीर प्रकृति के खाकी पोशाक वाले ने मुझे बड़े ग़ौर से सिर से पाँव तक देखा—इस प्रकार, कि मुझे सन्देह हुआ कि अब यह कहता ही है कि मैंने कहीं आप को देखा है। पर बहुत जल्द मालूम हो गया कि यह बात नहीं है, बल्कि कारण दूसरा है। वह यह है कि मैं बड़ा ही रद्दी सूट पहिने हूँ...जैसे कि मैं किसी गोरे के तीजे (एक संस्कार जो मरने के तीसरे दिन होता है) में गया था और वहाँ से उसके दादा के नीलाम होते हुये सामान में से ले आया हूँ।

उन महाशय ने मुझे कुछ संदिग्ध दृष्टि से देख कर श्रीमतीजी की ओर भवों से इशारा करके कहा—"ये कौन हैं?

मैंने कहा—"क्यों? ये..."

"आप इनके साथ हैं?"

"जी हाँ, मैं..."

"आप नौकर हैं इनके?"

"जी? क्या कहा आपने?" मैंने इस प्रकार कहा, मानो सुना ही नहीं।

"मेरा मतलब यह है कि आप..."

"मेरी पत्नी हैं ये।" मैंने तनिक गर्व के साथ कहा।

"पत्नी!" उन्हें शायद ऐसा लगा कि मैं झूठ बोल रहा हूँ।

यह कह कर मैंने उस आदमीनुमा शक्की जानवर को देखा, जो मेरी बातों पर विश्वास ही नहीं कर रहा था। मुझे कितना क्रोध आया है उस बदमी पर कि बता नहीं सकता। वार्ता समाप्त होने के बाद, अर्थात् विश्वास करने से इनकार करने के बाद वह सिगरेट का धुआं एक 'हुँकारे'

के साथ दूसरी ओर नहीं छोड़ने लगा, बल्कि ज़ोर देकर मानो मुझसे कह रहा था कि 'तू झूठ बकता है।'

मैं भला, यह कब सहन कर सकता था! मैंने उसका हाथ पकड़ अपनी ओर आकृष्ट करते हुए कहा—"जनाब को इस बारे में आख़िर शक क्यों हुआ!"

यह मैंने बहुत धीरे से कहा कि श्रीमतीजी कहीं सुन न लें, नहीं तो कहतीं कि ऐसी बातें शुरू ही क्यों की। परन्तु उस बदतमीज़ और शक्की आदमी को तो देखिये कि उपहासप्रद ढंग से 'भक' से धुआँ मुँह से निकाल कर कहता है और वह भी मुस्करा कर बहुत ही धीरे से—"जी, पर धीरे से बोलिये।"

यह कहकर वह बेपरवाही से दूसरी ओर मुँह करके धुआँ उड़ाने लगा। मैं जलकर कबाब हो गया। मैंने मन में कहा कि ओ अभागे, तू मत विश्वास कर; शक्की जानवर जा चूल्हे में! पत्नी तो यह हमारी सोलह आने है .. सिर्फ़ मेरी!

(३)

इसके बाद मैंने स्वयं अपना मुआयना किया। सुना करते थे कि पहले ज़माने में लोग घड़ों में कपड़े रखते थे। तब सन्दूक सब के पास नहीं थे। आज पता चला कि यह बात बिलकुल ग़लत है। बात वास्तव में यों होगी कि ऐसे लोगों की पत्नियाँ मैले कपड़े निकाल कर अपने पतियों को ज़बरदस्ती पहिना देती होंगी। अतएव मुझे श्रीमतीजी पर अत्यधिक क्रोध आया। सरक कर जरा क़रीब आया। वह समझीं कि मैं कुछ ज़रूरी बात कहना चाहता हूँ, अतः उन्होंने भी मेरी तरफ़ अपना कान बढ़ाया और मैंने चुपके से उनके कान में कहा—"क्यों जी, यह आखिर तुमने हमें समझा क्या है!"

इसके उत्तर में उन्होंने मुझे भौंहें सिकोड़ कर इस प्रकार देखा कि मुझे सन्देह हुआ कि वह ज़बान से कुछ कहने के बजाय शायद मन में मुझ से कह रही हैं—'मूर्ख!'

सहसा मुझे उनके इस प्रकार धृष्टता से देखने पर और भी क्रोध आया और फिर मैंने उसी तरह पूछा—"आखिर तुमने हमें समझ क्या रक्खा है!"

"हूँ!" आखिर उन्होंने कहा—"ख़ैर तो है!"

मैंने भन्ना कर कहा—"यह हमारे अच्छे-अच्छे महँगे सूट, बल्कि सेकेण्ड क्लास में सफ़र करने के लायक मेरे सूट और बढ़िया-बढ़िया टाइयाँ वग़ैरह आख़िर किस दिन के लिये तुमने बनवा कर रक्खी हैं! क्यों नहीं आखिर तुम पहिनने देतीं! चलते समय हमने तुमसे कितना कहा कि यह सूट मैला और कितनी दफ़े का पहिना हुआ है, और इससे दो-चार बार जूता भी पोंछा जा चुका होगा। फिर यही क्यों पहिनने को दिया! क्यों नहीं तुमने......।"

बात काटकर वह भी धीरे से, किन्तु तेज़ी से बोली—"पागलों की-सी बातें तो करो नहीं। जानते हो, सफ़र में कपड़े ख़राब हो ही जाते हैं।"

अब आप ही न्याय करें कि ऐसे अनुचित जवाब से मैं कैसे जलकर कबाब न हो जाता। स्वयं तो पहिने हुए हैं रेशम के कपड़े, रेशम के मोज़े, ग्यारह रुपये वाला जूता और हम पहिने हुए हैं एक मैला-कुचैला सूट। टाई ऐसी जैसे भगिन का कमरबन्द और कालर ऐसा जैसे टामी का पट्टा और पैर में एक अँगरेज़ी जूता, जो सामने से ऐसा फटा है, जैसे अँगरेज़ों के नौकर साहब का उतारा हुआ जूता पाते हैं। इनके कपड़े तो मैले न होंगे और हमारे हो जायँगे! ख़ुदा जाने, कुरूप पतियों की इन सुन्दर पत्नियों ने मन में क्या सोच रक्खा है! मैं जल ही तो गया, और मैंने बल खाकर कहा—"और यह तुम जो अपने अच्छे कपड़े पहिने हो ये मैले न हुए?"

"रेल में ऐसी बातें नहीं करते।" यह मानो एक घसीट का पेंच था कि खींच कर वह काटा! और जवाब आँखों से क्रोध का प्रदर्शन करके। बस, ख़तम!

मैंने भन्ना कर इस 'चटाख़ेदार' उत्तर पर क्रोध का घूँट-सा पिया, किन्तु अन्त में धैर्य न रहा और मैंने फिर जोश में आकर कहा—"आख़िर यह भी कोई..."

पर मेरी बात तेज़ी से काट दी गई—यह कह कर कि—"और जो सफ़र में कोई मिलने-जुलने वाली मिल जाये तो...! बस, बच्चा बनते हैं।" यह कहकर मुँह दूसरी ओर फेर लिया, मानो आगे बहस मंजूर नहीं। मैं इसके सिवा क्या करता कि जलता और भुनता रहा। इतने में गाड़ी रुकी। एक सब-इन्स्पेक्टर साहब अपनी फ़ौज और इतने सामान के साथ रेलपेल करते हुए डिब्बे में आये कि श्रीमतीजी घबरा कर बोलीं—"हमें सेकण्ड क्लास का टिकट बनवा दो।"

मैं टिकट बनवाने दौड़ा।

मैंने कहना चाहा—"मगर....।"

"जल्दी....यह लो.. जल्दी-जल्दी।" यह कह कर मुझे टिकट दिये और फिर कहने लगीं—"जल्दी करो।"

(४)

इन रेलवे के बाबुओं को इतनी जमुहाइयाँ आती हैं, और फिर ऐसी-ऐसी कि छोटी-छोटी आँखें मोटे-मोटे चेहरों पर खो-खो जाती है। दिल का खून सिमट कर नाक की फुनगी पर आ जाता है, और अँगड़ाइयाँ ऊपर से ऐसी बेतुकी और ऐसी बेमौक़ा कि बयान नहीं कर सकता। यह नहीं देखते कि हमारा बोझ क्या है और जिस कुरसी पर हम स्वयं धरे हुये हैं, वह कैसी है। उन्हें तो इससे मतलब ही नहीं, बस अँगड़ाई लेने से काम है।

मैंने कहा—"जनाब, मुझे कानपुर तक के सेकण्ड क्लास के टिकट बनवाना है।"

उधर इसके जवाब में पहले तो मुझे उन्होंने ग़ौर से देखा और शायद किसी टूटे-फूटे अँगरेज़ का बटलर समझ कर जवाब में जमुहाई के साथ अँगड़ाई लेना उचित समझा और तभी कुरसी जो चरचराई, तो एकदम से ऐसा मालूम हुआ, जैसे जादू के ज़ोर से चेहरे पर आँखें पैदा हो गईं!

यह इटावा का स्टेशन था और मैं पुल पार करके प्लेटफ़ार्म के उस तरफ़ आया था टिकट बनवाने। बाबूजी ने बड़ी कृपा की, जो कुछ देर के

बाद एक लापता टिकट-चेकर का हवाला दे दिया। मैं उनकी खोज में लग गया और उन्हें हर जगह तलाश किया। स्टेशन के पाखाने के अतिरिक्त कोई भी जगह नहीं छोड़ी। मैं उनको खोज ही रहा था कि वह स्वयं मुझे तलाश करते हुये आ पहुँचे। मैंने टिकट हवाले करके बदलने को कहा, तो उन्होंने कहा—"दाम!" और मैंने जवाब में कहा—"अरे!" रुपये-पैसे का बटुआ श्रीमतीजी के पास है। अतः दौड़ा एकदम से टिकट-विकट छोड़ कर दाम लेने। दौड़ा ही था कि ख़याल आया कि कहीं टिकट चेकर सहित ग़ायब न हो जाय, अतः फिर दौड़ा वापस, और उधर रेल ने दी सीटी। जब तक मैं झपट कर उनके हाथ से टिकट वापस लूँ, रेल चल दी। अब बजाय पुल पार करने और उस तरफ़ पहुँचने के मैं रेल की पटरी फाँदकर बुरी तरह दौड़ा और जो डिब्बा सामने आया, उसी में बैठ गया। अब हाँफते-हाँफते खिड़की से सिर निकाल कर बाहर जो देखता हूँ, तो रेल तो प्लेटफ़ार्म के बाहर और श्रीमतीजी खड़ी हुई हैं असबाब सहित प्लेटफ़ार्म पर। बौखलाया हुआ तो आया ही था; बस, देखते ही उछल पड़ा। इरादा किया कि खिड़की खोल-कर कूद जाऊँ, परन्तु एक बड़े मियाँ बैठे थे मोटे से। उन्होंने शायद सोचा कि यह पागल है, अतः हाथ पकड़ लिया। जल्दी में झटके पर झटके दे डाले, परन्तु हाथ नहीं छूट सका। वे न जाने क्या पूछने लगे और मैं न जाने क्या कहने लगा। उन्होंने खिड़की बन्द करते हुए मुझे छोड़ा, तो मैं जंजीर खींचने दौड़ा, पर वह भला कहाँ हिलती। दूसरों से पूछा तो वे कारण पूछने लगे। सब पलक झपकाते ही हो गया। कारण बताया, तो फिर बड़े मियाँ ने हाथ पकड़ कर बैठा लिया और कहा—"आख़िर इतनी घबराहट क्यों है! तार दे देना अगले स्टेशन पर से और दूसरी गाड़ी से वापस आ जाना।" बात मेरी समझ में आ गई। झाँक कर फिर श्रीमती जी को देखने की कोशिश की। ख्याल आया कि ठीक है, ऐसा हो चुका है। उस बार जब रह गया था, तो श्रीमतीजी चली गई थीं। बाद में उन्होंने कहा था कि मैंने भूल की। अगले स्टेशन पर उतर कर तुम्हें तार दे देती और तुम आ जाते। मैंने कहा—"मैं खुद पहुँचकर आगे तार दे दूँगा और वह आ जायँगी।"

(५)

एक्सप्रेस के रुकने का दूसरा स्टेशन जसवन्तनगर था। वहाँ उतरा, तो पहले ही से तार मौजूद था। लिखा था कि इस नाम के आदमी को डिब्बे में से यह कह कर उतार लो कि तुम्हारी पत्नी इटावा में उतर गई है। मैं उतर ही चुका था। मेरे पास तार के पैसे भला कहाँ! परन्तु पता चला कि तार मुफ़्त दिया जायगा। अतः मैंने तार दिलवा दिया कि—'घबराना मत, मैं उतर पड़ा हूँ। दूसरी गाड़ी से चली आओ।'

मेरे यहाँ पहुँचने के थोड़ी देर बाद ही एक मालगाड़ी इटावा जा रही थी। मैंने मन में सोचा कि विरह के सदमे कौन उठाये! इससे अच्छा है कि चले चलो। मालूम हुआ कि सेकण्ड क्लास का टिकट लेना पड़ेगा। जब हमने कहा कि रुपये नहीं हैं, तो यह भी तय हो गया कि अच्छा, तुमको मुफ़्त पहुँचा दिया जायगा। हमने कहा कि अच्छा है और खुश थे कि गार्ड साहब ने बड़े इतमीनान से प्रोग्राम बताया; अर्थात् यह कि इतना तो विश्वास था कि कभी न कभी तो यह गाड़ी अवश्य पहुँच जायगी; परन्तु यह पता नहीं था कि वहाँ पहुँचेगी कब! सवारी गाड़ी जो इसके बाद जायगी, उससे पहले या बाद में! खोज करने पर पता चला कि सवारी गाड़ी बीच के किसी स्टेशन पर नहीं रुकेगी और यह अवश्य रुकेगी। पहुँचने के बारे में आशा थी कि सवारी गाड़ी से कुछ पहले पहुँचेगी; किन्तु यदि ऐसा न हुआ तो सम्भव है, सवारी गाड़ी के भी आध घण्टे बाद पहुँचे। और फिर अभी तो यह भी पता नहीं था कि कमबख्त छूटेगी कब! जहन्नुम में जाय ऐसी गाड़ी! हमने इरादा बदल दिया और लगे सवारी-गाड़ी का इन्तज़ार करने।

इन्तज़ार भी बुरी चीज़ है, और फिर ऐसे मौक़े पर। तंग आकर हमने भी बड़े धैर्य से एक कुरसी पर बैठ कर, आँखें आधी बन्द करके पैर हिलाना शुरू कर दिये। यहाँ तक कि थक गये। फिर बड़ी देर तक आँखें खोल कर सीटी बजाते रहे। इसके बाद फिर पैर हिलाये। ख्वाहमख्वाह घड़ी बार-बार देखी। सन्देह हुआ कि सुइयाँ चल नहीं रही हैं। कान से कई बार लगा कर देखा। बार-बार अपनी घड़ी में समय देखा और फिर स्टेशन की घड़ी देखने

गये। कुछ बस न चला, तो सोचा कि लाओ, कुछ न सही, तो पानी ही पियें। पानी पीने जा रहे थे कि ख्याल आया कि पेड़ा खाकर पानी पीना ठीक रहेगा। पहुँचे पेड़ेवाले के पास। कहा कि दो आने के पेड़े देना। वह तौलने को हुआ, तो ख्याल आया कि पैसे! तुरन्त उससे पेड़ों का भाव पूछ कर महँगे होने के कारण लेने से इनकार किया और वहाँ से सीधे प्लेटफ़ार्म के कगर पर टहलना शुरू किया। बहुत जल्द निश्चय कर किया कि इस प्रकार टहलना चाहिये कि हर क़दम नपा तुला पत्थर के टुकड़े के भीतर ही पड़े। अतएव इस प्रकार प्लेटफ़ार्म के किनारे-किनारे टहल कर उसके पत्थर दो बार गिन लिये। इसके बाद सिगनलों को जाकर दबाना शुरू किया। एक कुली ने स्टेशन-मास्टराना शान से आकर रोका और बताया कि यह तो बहुत अनुचित और मना है। सारांश यह कि आप से क्या बतायें कि कैसे समय काटा है।

(६)

हमारी ओर से श्रीमती जी की ओर गाड़ी पहले जाती थी और इसी का हमें इन्तज़ार था। गाड़ी आई और हम टिकट लिये बिना उसमें बैठ कर रवाना हुए, क्योंकि हमारे पास टिकट मौजूद ही थे। जब चल पड़े, तो पहुँचते क्यों न! पहुँचे और यह सोच कर कि जोरू वेटिंग-रूम में बैठी होगी, उसमें घड़घड़ाते हुए घुसते चले गये। वहाँ श्रीमतीजी के स्थान पर एक मोटा सा अँगरेज बैठा था। उसने सोचा होगा कि यह बटलर किधर से घुस आया और अँगरेजी में पूछा—"क्या है?"

उलटे पाँव लौटे वहाँ से। हमें भला कहाँ फ़ुरसत कि अँगरेज से उलझें या उसे जवाब दें। इधर देखा, उधर देखा, तरह-तरह के शक हो रहे थे कि एक बाबू साहब मिले। उनसे हमने पूछा—"क्यों जनाब!"

"कहिये।"

"यहाँ पर एक मुसलमान लेडी...मुसलमान औरत।"

"हाँ, हाँ,!" ये बोले—"वही न जिनके मियाँ उन्हें छोड़ कर आगे

चल दिये ! अजब बेवकूफ हैं वह भी (एक दम से कुछ सोच कर)...पर आप !...वह तो गईं शायद ।"

"कहाँ गईं !" मैंने गुस्से को दबाते हुए कहा। और फिर वैसे भी परेशानी क्रोध से बढ़ी हुई थी।

"अगले स्टेशन पर—शायद जसवन्तनगर।"

"कब ! कैसे ! एँ, कब !" मैंने बदहवास होकर पूछा।

"मालगाड़ी पर गईं··असबाब तो उनका जाते मैंने देखा था....जरूर गई होंगी....। मगर आप !" उन्होंने मुझे सिर से पैर तक देखा।

मैंने कहा—"वह मेरी पत्नी हैं।" यह कह कह मैंने जानबूझ दूसरी तरफ नजर कर ली।

"आप की !" यह कह कर संदिग्ध दृष्टि मेरे ऊपर डालते हुए चलते-चलते वह रुक गया—"आपकी !" उसने फिर कहा।

"जी हाँ।" मैंने कहा—"जरा, पता लगा कर बताइये।"

"ओ हो, माफ कीजियेगा।" उसने कहा—"आइये !" और यह कह कर वह आगे चला। हम दोनों बुकिंग-आफिस में पहुँचे और वहाँ पता लगाने पर मालूम हुआ कि वह गईं माल गाड़ी से। और फिर मालगाड़ी कौन-सी ! वह जो रास्ते में छोटे स्टेशन पर हामरी गाड़ी को मिली थी।

जोरू के गड़बड़ में पड़ जाने के कारण मेरी बदहवासी बढ़ रही थी। लाख विश्वास दिलाता हूँ उन मूर्ख बाबुओं को कि जनाब, गलती उस मूर्ख पत्नी की है न कि मेरी। पर वे दुष्ट कहे जाते हैं कि—"जनाब, वह तो बहुत होशयार मालूम पड़ती हैं। गलती खुद आपकी है कि आप क्यों चले आये, जब आपका रास्ता उधर ही को था।"

अब बताइये कि मैं उन मूर्खों से क्या यह कह देता कि हमें उसकी मोहब्बत खींच लाई; हम उसके विछोह को न सह सके ! इतनी बुद्धि ही नहीं उनमें कि मेरी बात वे समझते। लगे कठहुज्जती और बहस करने। मैंने बहुत कुछ कहा कि इस वजह से चला आया कि गाड़ी पहले इधर आती

है। पर ये कम्बख़्त रेलवेवाले, अजी, एक ही बकवादी और नालायक़ होते हैं। न मानना था, न माने। उन्हें न कायल होना था, न हुये। ख़ैर, मैंने मन में कहा कि इनके दिमाग़ तो रेल की सीटियों और "झक-झक फक-फक" ने उड़ा दिये हैं। और श्रीमतीजी एक चलता-पुर्ज़ा! उन्होंने अवश्य कुछ लगाई होगी। अतः इनकी स्थिति दयनीय है, इसलिये उन लोगों को तो मैंने उनके हाल पर छोड़ा और कहा उनसे कि ख़ैर, ख़ता और ग़लती मेरी सही! अब आप ही इतनी बुद्धिमानी करें कि एक तार दे दें, उसको अगले स्टेशन पर कि मैं यहाँ हूँ। परन्तु ख़बरदार, अब तुम वहीं रहना।

(७)

इसके बाद मैंने सोचा कि क्या करना चाहिये। गाड़ी आने में बहुत समय था। भूख अलग लग रही थी। सोचा कि ज़रा शहर में चल कर इस्लामिया स्कूल के पुराने साथियों में-से किसी को ढूँढ़ँ। अतएव पहुँचे एक साहब के यहाँ, जिन्हें बहुत दिन हुए तब हमने आठवीं कक्षा में छोड़ा था और विश्वास था कि अब वे नवीं कक्षा में आ गये होंगे। सौभाग्य से मिल गये और ख़ूब मिले। जो बातें होती हैं, वही हुईं, अतः उनका उल्लेख बेकार है।

अब यहाँ एक भूल हमसे हो गई। वह यह कि गाड़ी का ठीक समय मालूम करना भूल गये। गाड़ी का इस तरह का नाम याद रह गया जैसे साढ़े दस बजे वाली, पौने पाँच बजेवाली इत्यादि। इस ग़लती का हमने उस समय अनुभव किया, जब समय क़रीब आया और हमने अपने मित्र से चलने को कहा। उन्होंने स्वाभाविक ढङ्ग से यह कह कर रोकने की कोशिश की कि गाड़ी में अभी देर है। अतएव कुछ देर रुकने के बाद अन्दाज़ से ही चल दिये। स्टेशन पर पहुँच कर जब तक इक्के से उतरें-उतरें कि गाड़ी प्लेटफ़ार्म छोड़ चुकी थी।

या मेरे ख़ुदा! अब मैं क्या करूँ! दोस्त से दाम लेकर श्रीमतीजी को तार दिया, संयोगवश गाड़ी छूट गई और हम दूसरी गाड़ी से ज़रूर आ रहे हैं।

तार देने को तो हमने दे दिया; परन्तु अब यह सोच रहे थे कि क्या होगा! शामत आ जायगी। वह लड़ाई होगी कि क्या बताऊँ!

उन मित्र को यह सज़ा दी कि बैठो अब मेरे साथ और मुझे विदा करके ही जाना।

... ...

गाड़ी आई और हम विदा हुए। जसवन्तनगर का स्टेशन आया। हम समझे थे कि स्टेशन पर श्रीमती जी सामान लिये तैयार खड़ी मिलेंगी, पर यहाँ कोई नहीं था। जल्दी से उतरे और एक कुलीनुमा आदमी से जो पूछा, तो उसने उत्तर दिया—"सो रही होंगी वेंटिंगरूम में।"

मुझे क्या पता कि उस कमबख्त ने योंही अटकल से कह दिया है। अतएव मैं यह सुनते ही वेटिंग-रूम की ओर दौड़ा और साथ ही ज़ोर से कुली को भी आवाज़ दी। क्या देखता हूँ कि दरवाज़ा बन्द है और वह भी भीतर से। ग़ज़ब हो गया! मैंने मन में कहा—सो रही हैं घोड़े बेचकर, और यहाँ गाड़ी निकली जाती है। झाँक कर देखा, तो अँधेरा! जानता था कि बिना बत्ती बुझाये उन्हें नींद ही नहीं आती। अब मैंने बदहवास होकर किवाड़ धड़धड़ाना शुरू किये, पर वहाँ जवाब नदारद! इतने में रेल ने सीटी दी। मैं और भी घबरा गया। समझ में न आया कि क्या करूँ। निराश होकर अपने डिब्बे की ओर लपकने को हुआ कि टोपी तो ले लूँ कि एक कुली ने रोका। रेल ने एक और सीटी दी। कुली से मैंने कहा "ठहरो!" और लपका अपने डिब्बे की ओर टोपी लेने। लेकिन घबराहट में न जाने किस डिब्बे में घुस गया। वहाँ से निकला और अब इधर दौड़ता हूँ और उधर, पर जल्दी में अपना डिब्बा नहीं मिलता। रेल ने एक और सीटी दी, और अब मुझे ख़याल आया कि वह है अपना डिब्बा। रेल चली और मैं लपका। मालूम हुआ कि भूल हुई—और पीछे है, पर अब गाड़ी तेज़ हो चुकी थी। खड़े का खड़े रह गया। अपना डिब्बा सामने से निकला और मैंने देखा कि वह सामने मेरी टोपी रक्खी है। गाड़ी काफ़ी तेज़ हो चुकी थी, अतः सिवाय खड़े ताकते रहने के और कुछ कर भी तो नहीं सकता था।

(८)

ख़ैर, मैंने मन में कहा—टोपी गई तो क्या हुआ। अच्छा है कि श्रीमतीजी ने नई टोपी नहीं दी थी। अब इतमीनान से आध घण्टे वेटिंग-

रूम में लड़ेंगे और फिर सोयँगे। सुबह की गाड़ी से जाना होगा, अतएव मैं वेटिंग-रूम के पास आया और दरवाज़ों को ज़ोर से पीटा।

वही कुली आया और कहने लगा, "अन्दर से कमरा बन्द है। वेटिंग-रूम का चपरासी पीछे की ओर से ताला डालता है। आपको खुलवाना है, तो स्टेशन-मास्टर साहब से कहिये।"

"अयँ !" मैंने आश्चर्य से कहा—"तो इसके भीतर कोई नहीं है ! कोई औरत.........!"

"एक बेगम साहिबा आई थीं, पर वह तो चली गईं।"

"अरे !" मैंने उछल कर कहा—"किधर !"

"इधर !" कहकर कुली ने बड़ी सादगी से रेल की पटरी की ओर अँगुली उठा दी।

मैंने बेहद परेशान होकर एक गहरी साँस ली। जी में आया कि इन रेलवे वालों से ख्वाहमख्वाह लड़ पड़ूँ। अब मुझे पता चला कि पुराने ज़माने की बैल गाड़ियों की यात्रा में क्या-क्या लाभ थे। लाख कष्ट थे, पर इतना परेशान करनेवाली तकलीफ़ न होगी। ज़रा सोचिये तो कि ख्वाहमख्वाह मेरा सफ़र खोटा हुआ। श्रीमतीजी का यह अपराध कभी क्षमा नहीं किया जा सकता। उनको ऐसा हरगिज़ नहीं करना चाहिये था। आखिर क्यों चल दीं ? कैसे चल दीं ! उन्हें क्या हक़ था चल देने का ! खैर, देखा जायगा। इसी तरह मैं देर तक बल खाता रहा। परतु शीघ्र ही क़ायल होना पड़ा कि रात का समय है; सर्दी का मौसम है और दुनिया में हैरानी और परेशानी के अतिरिक्त एक और चीज़ भी है और उसका नाम शायद नींद है। किन्तु बहुत जल्द जाड़े ने कहा कि महाशय न तो रात कोई चीज़ है और न नींद। यदि है कोई तो बस मैं ! और यही मुझे स्वीकार करना पड़ा। किन्तु, चूँकि इस समय मुझे जाड़े पर कोई लेख नहीं लिखना है, अतः मौसम की ज़्यादतियों को छोड़िये सिर्फ़ यह सोचिये कि आग तापते हुए कुलियों के पास बैठकर अगर बदन को गर्मी पहुँचाना असम्भव था, तो यह भी असम्भव था कि बिना ओढ़े-बिछाये सो रहूँ या एक और आदमी की एक मैली-सी रज़ाई छीन लूँ, जो मुझे दिखा-दिखाकर ओढ़

रहा था और ललचा रहा था। बस, ऐसा समझिये कि मालूम होता कि अब सुबह नहीं होगी और इसी तरह सिकुड़ कर शायद मर जायँगे। पैसा पास नहीं। हाँ, टिकट एक छोड़ दो-दो थे।

जैसे-तैसे करके सुबह हुई। गाड़ी भी आई, बैठ भी गये और गन्तव्य स्थान पर यह हुलिया लिये पहुँच भी गये कि रात के जागे हुए और सिकुड़े-सिकुड़ाये मैला सूट पहिने और नङ्गे सिर। परन्तु वहाँ पहुँचे और पता जो लगाया, तो जनाब जोरू नदारद!

या मेरे ख़ुदा! अब मैं क्या करूँ! यह किधर गई आख़िर! क्या खो गई! एक जगह और भी खोजवाया, पर वहाँ भी पता नहीं। अन्त में ससुराल तार दिया और वहाँ से जवाब आया कि सकुशल पहुँच गईं। मानो वहीं जा रही थीं। अब इसके सिवा और क्या चारा था कि यहाँ से क़र्ज़ लेकर हम ससुराल पहुँचें।

(६)

शाम को कोई पाँच बजे होंगे, जब मैं ससुराल पहुँचा। घर में जो घुसा, तो क्या देखता हूँ कि ससुर साहब नमाज़ पढ़ने के बाद दुआ माँग रहे हैं। दो-तीन छोटे-छोटे साले एक चारपाई पर बैठे हुये थे। उनमें से एक उछल पड़ा और मैंने भी उसे पहिचान लिया। किस तरह उस नालायक ने मानो ख़ुशी के लहज़े में भर्राई हुई आवाज़ से चुपके से कहा है कि मैं सुन कर जल-भुन कर कबाब हो गया। उसका सारा चेहरा प्रसन्नता से चमक उठा, और तेज़ी से चारपाई से यह कहता हुआ उतरा—"भाई मियाँ खो··खो गये····मिल···" यह कहता हुआ वह भीतर दौड़ा—बाक़ी दोनों उसके पीछे। अन्दर पहुँच कर उसने शायद गला फाड़ कर नारा मारा·· "तुम तो कहती थी भाई मियाँ खो गये····मिल···" (सुनाई नहीं दिया)।

मैंने ससुर साहब को सलाम किया इशारे से उन्होंने रोका और जल्दी से दुआ को ख़तम करके कहा—"वालेकुम अस्सलाम, ज़िन्दाबाद····अरे मियाँ कहाँ खो गये थे?" मुस्कराते हुये उन्होंने कहा।

मैं भला क्या कहता! जी में तो यही आया कि कहीं कोश मिलता

तो दिखलाता कि जनाब, खो जाना और चीज़ है; और रह जाना और चीज़। फिर यह सेवक तो इस बार रह भी नहीं गया, बल्कि आपकी सुपुत्री की कृपा से यह सब कुछ हुआ। संक्षेप में इस प्रकार समझाया कि सारा दोष श्रीमतीजी पर आये, किन्तु वह जो किसी ने कहा है कि अपने तथा पराये में फ़र्क होता है, बहुत सच कहा है। लगे हज़रत वही किस्सा सुनाने, यानी गिनाने लगे वे सब चीज़ें, जो सफ़र में मुझ से खो गई थीं। और फिर बाद में टीप का बन्द—"तुम्हारे साथ तो औरतों का सफ़र करना ख़तरे से ख़ाली नहीं।"

उनसे निपट कर घर में पहुँचा, तो पर दादी टाइप की एक बाहरी स्त्री को सासजी चीख़-चीख़ कर उखड़े-उखड़े वाक्यों में मेरे मिल जाने की ख़ुश-ख़बरी सुना रही थीं—"मिल गया''हाँ, आ गया। हाँ, अभी आया है।"

"मिल गया?" बड़ी बी बोलीं।

"हाँ, मिल गया।" सास साहिबा बोलीं—"मिल गया। यह क्या खड़ा है। सलाम करता है।"

"जीता रहे हज़ारों बरस! इसके दुशमन खो जायँ।"

बड़ी बी दुआयें दे ही रही थीं कि घर की हड़बोंग सुन कर पड़ोसिन ने आवाज़ दी। बातचीत के लिए दीवार के एक छेद कर लिया गया था। वहाँ एक और बुढ़िया खड़ी पड़ोसिन को कुछ बताने लगीं। पूरी बात मैंने नहीं सुनी, परन्तु हाँ, इतना अवश्य सुना—"...उसके...दुश्मन...ये...मिल... हाँ...अभी..."

अब मेरे लिए असह्य हो गया था। जी चाहा कि फट पड़ूँ; एक सिरे से सब की खबर ले डालूँ। अन्त में मैंने दबी ज़बान से कहा—"कौन खो गया था? मैं कोई बचा हूँ, जो खो जाता! ख्वाहमख्वा आप लोग..."

मैं एकदम से चुप हो गया। सामने अपने कमरे से श्रीमती जी अँगुली से चुप रहने का संकेत कर रही थीं। मैं उधर देख ही रहा था कि एक और दादी ने अपनी दिलचस्प आवाज़ में कहा—"मेरी चमेली कली! कहाँ खो गई थी?"

उन्हें देख कर मुझे वैसे हँसी आती है। हँस कर मैंने कहा—"दादी सलाम!"

इसके जवाब में उन्होंने दुआ देकर मेरी बलैयाँ लीं और कहने लगीं—

"क्या बताऊँ बेटे, जब से मैंने सुना कि तू खो गया, दिल उलटा आता था। मैंने न्योछावर के उड़द माने हैं।"

"आप भी कैसी बातें करती हैं।" मैंने कुछ बुरा मानते हुए कहा—"कोई बच्चा हूँ मैं, जो सब कह रहे हैं कि मैं खो गया था!"

"फिर और कैसे खो जाते हैं!" दादी ज़रा तेज़ होकर बोलीं "ख़ुद तेरी घरवाली कह रही है कि तू खो गया था। जिसका अता-पता न मिले कि किधर गया और कहाँ रह गया, तो उसे यही कहेंगे कि खो गया। ...और मियाँ, अल्लाह रक्खे, तुम हो भी तो बिलकुल भोले अहमक! दुनिया जहान की चीज़ें खोते-फिरते हो। आये दिन सुनने में आता है कि यह खो गया, वह खो गया। फिर कल सुना कि लो तुम खुद कहीं खो गये!"

मैंने कुछ हँस-हँस कर और कुछ बिगड़-बिगड़ कर बताया कि न तो मैं खो सकता हूँ और न खो गया था, और आगे मेरे साथ इस गन्दे शब्द का प्रयोग न किया जाय। पर यहाँ का तो वायु-मण्डल ही मेरे और हर समझ-दार व्यक्ति के खिलाफ़ है। जब मैंने कहा कि मैं खोया नहीं, बल्कि रह गया था तो वे बोलीं—"बेटा, रह तो हमारी बच्ची गई थी। तुम तो आगे जाकर न जाने कहाँ खो गये थे।"

सारांश यह कि थोड़ी देर उनसे और बहस की और जैसे भी बना, अपनी जान छुड़ाई।

...   .

इसके बाद श्रीमतीजी से बहस हुई। उन्होंने मुझे दोष दिया और मैंने उन्हें। वह इटावे पर उतरीं और सेकेण्ड क्लास में बैठीं और जब देखा कि मैं ग़ायब हूँ और रेल चल देगी, तो उतर पड़ीं। और उधर दूसरी ओर से दौड़ कर मैं बैठ गया। मेरा इरादा तो बहुत कुछ लड़ने का था, परन्तु आगे के लिये उठा रक्खा। मैंने उनसे कहा कि तुम खो गई थीं और उन्होंने कहा कि तुम खो गये थे। अब फैसला पाठकों के हाथ में है कि कौन मूर्ख है। यों मूर्ख तो दोनों हैं; परन्तु सवाल यह है कि अधिक मूर्ख कौन है और खो कौन गया था; मैं कि वह! → तुम्हारी स्त्री।

अँधेरा

अँधेरा ! कितना मधुर तथा आकर्षक शब्द है, जो तुरन्त ही वास्तविकता की कटुता को दूर करके मनुष्य को कल्पना तथा भावना की दुनिया में ले जाता है—वहाँ जहाँ प्रेम की आनन्दमयी घटनाएँ अँधेरे के शान्तिपूर्ण वायुमण्डल में छाया की भाँति चलती-फिरती दिखाई पड़ती हैं। परन्तु कायरों तथा कवियों का भला हो कि ख्वाह-मख्वाह अँधेरे को बदनाम कर रक्खा है। वह नहीं कहते कि प्रेम तथा रोमांस का रहस्य अँधेरा है। वह कैसे ? मैं आपको बताये देता हूँ।

पहला अँधेरा

तब की बात है कि जब हमारा नया-नया विवाह हुआ था, और दो एक बार से अधिक श्रीमतीजी का अपने घर जाना नहीं हो पाया था, कि एक विचित्र कठिनाई का सामना करना पड़ा। बात असल यह है कि जब नया-नया विवाह होता है, तो लड़केवाले तथा लड़कीवाले दोनों एक प्रकार की मूर्खता में फँसे होते हैं। लड़केवाले कहते हैं कि जब तक लड़की के घर से सचमुच कोई लेने न आ जाय, उस समय तक लड़की को उसके मायके न जाने देना चाहिये। अतएव यही हमारे यहाँ हुआ। अगर कभी हमने इस बात का इरादा किया कि लाओ, हम घर पहुँचा आयँ, तो तुरन्त ही माताजी ने भयभीत होकर कहा—"लो, और सुनो ! वहाँ से कोई लेनेवाला आना चाहिये।"

अब जनाब, इधर तो यह मामला और उधर, यानी हमारी ससुराल का यह हाल कि श्रीमतीजी की माताजी एक 'जंगली' रिश्तेदार लेने भेजतीं। वहाँ से आदमी क्या लेने आ रहे हैं, बस, यह मालूम हो रहा था कि हम बैठे ताश खेल रहे हैं और हो रहा है शाहकट····तरह-तरह की बाज़ी आ रही है····कभी पान का बादशाह चला आ रहा है, तो कभी चिड़ी का बादशाह। ख़ुदा की पनाह ! एक साहब आये थे, उन्होंने मफ़लर को इस ज़ोर से कसकर दाढ़ी चढ़ाने के काम में लिया कि उसमें सिलवटें पड़ गईं,

जो कभी न गईं। और श्रीमतीजी से जो पूछा, तो वह बोलीं कि उन्होंने स्वयं माथे पर बाँधा था। एक साहब और एक बार आये, तो डण्ड करने में कुरसी तोड़ गये। अब प्रकट है कि इस प्रकार के लोग श्रीमतीजी की यात्रा में क्या-क्या न गत बनाते होंगे। थर्ड क्लास में ठूँस कर बेख़बर हो जाते हैं। परन्तु इधर कोई ढंग का स्टेशन आया नहीं कि पहुँचे ये महाशय, झाँकने से मना करने। दही-बड़े वह न लेने दें, चाय या बर्फ़ वह न पीने दें। सारांश यह कि इसी प्रकार के झहूसों के साथ श्रीमतीजी को यात्रा करना पड़ती थी। यहाँ तक कि अन्तिम बार जो वह इसी प्रकार के ईंट के बादशाह के साथ गईं, तो उसके हुआ सिर में दर्द थकावट के कारण, और वह महाशय ख़फ़ा हुये।

इन बातों का परिणाम स्पष्ट है। अब जो जाने का मौक़ा हुआ, तो कोशिश करके हम स्वयं श्रीमतीजी को लेकर पहुँचाने गये।

दोपहर का समय था, जब हम ससुराल पहुँचे। गरमी के दिन थे। विवाह के बाद तीसरी बार हम ससुराल पहुँचे थे, क्योंकि हमें लेने जाने की भी इजाज़त नहीं थी। नहा-धोकर शानदार भोजन किया गया। इसके बाद हम कमरे में पहुँचे श्रीमतीजी के।

एक मसहरी बहुत बढ़िया बिछी हुई थी। पास ही एक आरामकुरसी रक्खी थी। मसहरी पर हम लेट गये, और नाज़ो ने पंखा खींचना शुरू किया। लेटे ही थे कि श्रीमतीजी आईं और मुझे सोने की राय देकर चलने लगीं।

मैंने श्रीमतीजी से कहा कि तुम दरवाज़े कमरे के चारों ओर के बन्द कर दो। उन्होंने दरवाज़े बन्द कर दिये, झिलमिलियाँ चढ़ा दीं, और कमरे में एक मनोहर अँधेरा छा गया—एकदम अँधेरा घुप। नाज़ो बोली कि एकदम अँधेरा हो गया। झिलमिली के महीन-महीन छेद से प्रकाश की एक सुनहरी किरण निकलकर श्रीमतीजी के चेहरे पर पड़ी, और मुझे लगा कि श्रीमतीजी का सुन्दर चेहरा है कि पारा तड़प रहा है। श्रीमतीजी हिलीं, तो रोशनी का भाला आँखों में लगा। उन्होंने आँख बचा कर और

मुस्कराकर कहा—"मैं जाती हूँ, यह नाज़ो पंखा खींचती रहेगी, तुम सो जाओ पड़ कर।"

मैंने इसके उत्तर में कहा—"परदे भी खींच दो।" श्रीमतीजी ने परदे खींच दिये और नन्हें-नन्हें छेदों से रोशनी की चुलबुली और नर्म-नर्म किरणें सबकी सब लुप्त हो गईं। श्रीमतीजी ने दरवाज़े का पट आधा खोला। कमरे में एकदम से रोशनी हुई। पर तुरन्त ही श्रीमतीजी ने बाहर से द्वार उसी प्रकार बन्द करके अँधेरा कर दिया। मैं आँखें बन्द करके पड़ रहा। पंखे के हिलने की आवाज़ नेकी के फ़रिश्ते के अस्तित्व का क़ायल करती रही, और मैं सो गया।

मैं सोकर उस समय उठा, जब यह समझ में नहीं आता कि सुबह का तड़का है या शाम का झुटपुटा। ऐसा जान पड़ता था कि बुद्धि भ्रष्ट हो गई।

परन्तु कमरे में पूर्ववत् ख़ामोशी थी, पंखा पहले की तरह चल रहा था। यह ससुराल थी, कोई घर तो था नहीं, जो टाँग पकड़ कर खींचे जाते और उठा दिये गये होते। अँधेरा भी पहले ही की भाँति था। यद्यपि दरवाज़े का एक पट खुला हुआ था, परन्तु परदा पड़ा हुआ था। फिर शाम वैसे ही हो चुकी थी, अतः अँधेरा पहले ही जैसा था। मैंने सिर उठा कर देखा। सहसा श्रीमतीजी का मधुर स्वर बराबर के बरामदे से किसी दूसरे स्वर में उलझता हुआ, यानी बातें करता हुआ सुनाई पड़ा। मैंने कान लगाये, सुना—

"यह दिन भर नाज़ो तेरे दूल्हा के साथ कमरे में बन्द रही!" (कोई बड़ी बी थीं)।

श्रीमतीजी ने कहा—"पंखा खींच रही थी।"

"अ....च्छ....आ...." बड़ी बी ने व्यंगमय स्वर में कहा—"लड़की तू पागल हुई है!"

मैं जगह से उठकर दरवाज़े के पास आ खड़ा हुआ। नाज़ो को इशारा किया कि पंखा उसी तरह खींचे जाय। अब मैंने झाँक कर देखा। एक बड़ी बी श्रीमतीजी के पास बैठी थीं और पंखा अपने को इस प्रकार झल रही थीं कि हर दफ़ा स्वयं उनकी नाक बाल-बाल बच जाती थी।

श्रीमतीजीने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"क्यों नानी, क्या हुआ ?" यह वास्तव में पड़ोसिन थीं।

"क्या हुआ ?" बड़ी बी ने पंखा झलना रोक कर श्रीमतीजी की ओर घूर कर बड़ी तेज़ी से दो-तीन बार अपनी ठोढ़ी और नाक की फुनग छुई और फिर स्वयं ही बोलीं—"कुछ हुआ ही नहीं !···ख़ैर,···नाज़ो को ससुराल ले गई थी न···?"

"जी हाँ।" श्रीमतीजी बोलीं।

"यह क्यों ?" बड़ी बी ने पलंग पर पंखा मार कर श्रीमतीजी से प्रश्न किया।

श्रीमतीजी ने कहा—"काम करने के लिये अपना आदमी···"

श्रीमतीजी का इतना कहना था कि बड़ी बी ने तेज़ी से पान को इस कल्ले से उस कल्ले में किया। चेहरे पर भूकम्प के चिह्न उत्पन्न किये और पंखा पलंग पर पटक कर श्रीमतीजी का हाथ पकड़ कर झँझोड़ कर धीरे से, किन्तु कड़े स्वर में, कहा—"अरी कमबख़्त, सिर पकड़ कर रोयेगी···देख लीजियो, यह नाज़ो एक दिन तेरा ही चूडा मूँड़ेगी····पुतली है ग़ज़ब की वह तो····देखती नहीं तू···उठते-उठते तो थिरक जाती है····बाल-बाल उसका फड़कता है····है न मीरासिन आख़िर को।"

सहसा ये शब्द सुनते ही मुझे नाज़ो की ओर देखना पड़ा—यह देखने को कि ग़ज़ब की पुतली कैसी होती है। उसने तुरन्त आँखें नीची कर लीं।

उधर श्रीमतीजी को मैंने देखा कि बड़ी बी का कहना उन्हें बुरा लगा। क्यों ? क्या यह मेरे सच्चे प्रेम का अपमान नहीं था ? था और ज़रूर था ! फिर भला, क्यों मेरी प्यारी पत्नी बुरा न मानतीं। उन्होंने बड़ी बी से कहा—"ख़ुदा के लिये ऐसा न कहिये, आप कैसी बातें करती हैं !"

"कैसी बातें करती हूँ ?"

श्रीमतीजी बोलीं—"वे (मतलब इन पंक्तियों के लेखक से था) ख़ुदा न करे ऐसे हों ! फिर नाज़ो····'सूरत न शकल भाड़ में से निकल' !"

बड़ी बी बोलीं—वह भी कुछ तेज़ होकर—"लड़की, मेरे बाल धूप में सफ़ेद हुए हैं ? साँप का बच्चा होता है ख़सम ! साँप पर भरोसा करना

ठीक नहीं, चट से काट लेगा। अगर भरोसा किया, तो तू भला किस गिनती में है, सचमुच की परियों को छोड़कर चहेतों ने चुड़ैलों को घर में डाल लिया। रह गई सूरत-शकल, तो नाज़ो की उठती जवानी है। वहीदन से तो लाख दर्जे अच्छी है, जिसने इसलामी के मियाँ को उल्लू बना दिया। ज़रा होश की तो दवा करो! देखती नहीं है तू, नाज़ो की आँखों में ज़हर भरा है, ज़हर!"

मैंने तुरन्त कनखियों से नाज़ो को देखा—उसकी ज़हरीली आँखों को। इतने में सासजी की आवाज़ सुनाई दी और मुझे पूछा, तो मैं दबे पाँव लपक कर पलंग पर लेट गया। नाज़ो गर्दन नीची किये पंखा खींच रही थी। मेरी दृष्टि उस पर गड़ गई। यद्यपि अँधेरा था, परन्तु मैंने देखा···· यह देखा कि नाज़ो की उठती जवानी है। मुझे इस बात का अब पता चला। उसके सुन्दर, पर फैले हुये मुँह को देखा, जो इस कान से उस कान तक चला गया था। मोटे-मोटे ओठ जवानी का गुलदस्ता थे। नाक अवश्य नहीं दिखाई दी, क्योंकि दिन-दहाड़े रोशनी में भी उसका देख लेना कबूतर की दृष्टि का काम था। रह गईं आँखें: तो एक चमक उनकी अँधेरे में फिर देखी। ज़हर का छलकता हुआ प्याला थीं।

'अव्वल नम्बर की चुड़ैल है यह!' मैंने मन में कहा—'आई वहाँ से हमारी श्रीमतीजी का चूडा मूँड़ने! मारे जूतों के फ़र्श कर दूँगा। बहुत देखी हैं ऐसी उठती जवानी की चुड़ैलें और ज़हरीली आँखोंवाली ख़ूबसूरत लड़कियाँ!'

इतने में श्रीमतीजी ने कमरे में प्रवेश किया। बोली—"ग़ज़ब है ख़ुदा का, सोये चले जाते हो!" यह कहकर उन्होंने दरवाज़े खोल दिये। मैंने अपनी प्यारी श्रीमतीजी के सुन्दर चेहरे को देखा। एक फूल था खिला हुआ!

दूसरे ही दिन लौट आया। पन्द्रह-बीस दिन के बाद ही श्रीमतीजी का पत्र आया कि हमारा जी घबराता है और तुम्हें देखने को जी चाहता है। कोई तरकीब निकालो बुलाने की। यहां सिवाय इसके और क्या तरकीब हो सकती थी कि लेट गये लम्बे-लम्बे बनकर। पानी बहुत-सा पीकर

क़ै करदी और रात भर चीखे-चिल्लाये। दूसरे दिन पिताजी ने तार दिलवा दिया श्रीमती जी को, और एक साहब उनको लेकर आ पहुँचे।

मैं नहीं कह सकता कि मेरा क्या हाल था। श्रीमतीजी का ताँगा कमरे के बाहर रुका, जहाँ मैं बीमार बना हुआ पड़ा था। उनके बूट की मधुर आवाज़ आई है। परन्तु प्रश्न यह था कि नाज़ो भी आई है या नहीं। इसके मिनट भर बाद ही नाज़ो और नाजो की मालकिन दोनों सामने थीं। मैंने लेटे ही लेटे हाथ उठाया। श्रीमतीजी ने मुस्कराते हुए अपने कोमल हाथों में लेकर उसे दबाया। माथे पर हाथ फेरा। वह नाज़ो को साथ लाई थीं, इस कारण मेरे दिल में प्रेम की मीठी-मीठी पीड़ा होने लगी। यदि वह नाज़ो को न लातीं तो मुझे बेहद दुख होता, कुचल जाता—केवल इसलिये कि मैं समझ लेता कि मेरी प्यारी पत्नी ने मेरे प्रेम की कद्र नहीं की; मुझे साँप समझा। मैं प्रसन्न था, अत्यधिक प्रसन्न कि मेरी जीवन-संगिनी को मेरे ऊपर विश्वास है। सारांश यह कि मैं अपनी प्रसन्नता को शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता। मेरी पत्नी प्रेम-परीक्षा में सफल हुई।

दूसरा अँधेरा

अभागे हैं वे लोग जो अपनी प्यारी-प्यारी पत्नियों से सिर के बाल बनवाते हैं, या सिर में तेल डलवाते हैं।

शाम का झुटपुटा था। दिसम्बर का महीना, और जाड़ों की शाम। हवा में नमी थी। बाहर बरामदे के सामने मैं कुरसी पर बैठा था और उठ कर भीतर जानेवाला ही था कि श्रीमतीजी ने मेरे पीछे पहुँच कर मेरे सिर के बालों में अपनी नर्म-नर्म और लचकदार अँगुलियों का कंघा किया। सिर के बाल कुरेद कर कहा—"खुदा की पनाह! तुम्हारे सिर में कितनी खुश्की है।"

मैंने बेपरवाही से उठते हुए कहा—"रहने दो।"

परन्तु श्रीमतीजी बोलीं—"मैं अभी-अभी तेल डालूँगी।" और यह कह कर मुझे रोका।

मुझे सिर में तेल डालने से नफ़रत है। मैंने इनकार किया, परन्तु उधर

के आग्रह के आगे एक न चली, और श्रीमतीजी ने मुझे कमरे में ला बैठाया। मैं कुरसी पर बैठ गया और मिनट भर बाद ही मेरे सिर में तेल मला जाने लगा।

पत्नी से सिर में तेल मलवाते समय एक प्रेमी पति कहाँ से कहाँ पहुँच सकता है, यहाँ इससे बहस नहीं है; बल्कि सवाल यह है कि अँधेरा होने पर भी बिना रोशनी की सहायता के यही काम होता रहेगा। फिर दुर्भाग्य से तेल ख़त्म हो गया। मैंने साथ ही अँधेरे की ओर ध्यान दिलाया। श्रीमतीजी शीशी लेकर उड़ गईं—"अभी आई।" यह कह कर तेल लेने (शायद माताजी की ओर) गईं। मैंने आवाज़ दी कि "लालटेन भी।" क्योंकि लैम्प और लालटेन में तेल भरने और साफ़ होने के लिये अपने केन्द्र पर जाती थीं और सन्ध्या समय तक वापस भी लौट आतीं, पर उस समय यहाँ न तो लैम्प था और न लालटेन।

मैं उस समय कमरे में अकेला बैठा था। कमरे के बाहर पेड़ों की डालियाँ अन्धकार में डूब चुकी थीं। सामने का मैदान एकदम काला पड़ता जा रहा था। कमरे में अन्धकार का पूर्ण राज्य था। दूर से पक्षियों के अपने घोंसलों में बसेरा लेने के स्वर कान में आ रहे थे। सारांश यह कि अँधेरा अपनी रहस्यमयी चादर में संसार को छिपा रहा था। चारों ओर घोर निस्तब्धता छाई थी। मैं अँधेरे के तिलस्मी असर से मूर्त्ति की भाँति चुप था। अंधेरा क्या था, एक मनोहर कल्पना थी कि उसमें बहुत जल्द मैं खोता हुआ मालूम हुआ। शरीर की बेकारी और आँख की लाचारी, ये दोनों चीज़ें अँधेरे को सचमुच का तिलस्म बना देती हैं। एक हार्दिक शान्ति के साथ अध-खुली आँखों में नींद लिये हुए मैं बैठा था कि तेज़ी से बाईं ओर से श्रीमतीजी ने कमरे में प्रवेश किया। यह भी मानो उस अँधेरी दुनिया के प्रोग्राम का एक भाग जान पड़ा। अतः मैं चुप का चुप रहा। लालटेन की चिमनी उठाने का खटका हुआ, तो जैसे मैं एकदम चौंक पड़ा। एक क्षण के लिये घूम कर मैंने देखा कि श्रीमतीजो मेरी ओर पीठ किये बैठी लालटेन जला रही हैं। मैंने कहा—"जल्दी करो।"

लालटेन जल गई। मेरी पीठ की ओर लालटेन थी और मैंने अपनी

तथा कुरसी की विशालकाय परछाईं को सामने दीवार पर देखा। मैंने देखा कि दीवार पर श्रीमतीजी की परछाईं पड़ी...मैंने देखा कि शीशी में से तेल निकाला...शीशी रक्खी....और मैंने बाइस्कोप की तरह परछाईं में देखा कि....वह मेरे सिर पर तेल पड़ा और मालिश होने लगी।

मालिश के शुरू होते ही हाथों की अनिवार्य क्रिया और शरीर की गति-विधि की जो कुछ भी कैफ़ियत सामने दीवार पर परछाईं के रूप में मौजूद थी, वह देखने से सम्बन्ध रखती थी।

इस बाइस्कोप से पूर्ण आनन्द लेने के लिये पहले तो मैंने सामने की परछाईं को देखकर इसकी कोशिश की कि श्रीमतीजी को तंग करूँ और अपनी अँगुली अपने सिर पर से ले जाकर आँखों के सामने नचाई। मैंने परछाईं को देखा कि किस प्रकार मेरा वार खाली गया। मैंने बार-बार कोशिश की और बार-बार मेरा वार खाली गया। अब मैंने सोचा कि इस तरह मामला ठीक न रहेगा। बेख़बरी में इसकी नाक पकड़नी चाहिये, अतः परछाईं को ग़ौर से देखता रहा। एक ज़रा दाहिनी ओर सिर घूमा है, तो नाक का सिरा परछाईं में दिखाई पड़ा और मैंने लपक कर नाक पकड़ ही तो ली और एक ठहाके के साथ जो घूमा, तो ऊपर की साँस ऊपर और नीचे की साँस नीचे!...यह तो नाज़ो थी।

लज्जा और पश्चात्ताप के साथ परेशानी! और इसके साथ ही मैंने देखा कि उसके कुरूप और मोटे ओठों पर एक सेकण्ड पहले मुस्कान के सारे चिह्न स्पष्ट थे, उसकी निगाहें नीची थीं, और मैं अलग कटा जा रहा था।

घबराहट दूर करने के लिये मैंने तफ़सील पूछी, तो उसने बताया कि श्रीमतीजी को माताजी ने काम से रसोईघर में रोक लिया और उन्होंने तेल की शीशी देकर कहा कि जल्दी से जाकर रोशनी करके मेरे सिर में तेल लगा दे।

मैंने डाँट कर कहा—"फिर तुझे यह साँप क्यों सूँघ गया था!"

इसके बाद आप स्वयं सोच सकते हैं कि क्या हुआ होगा। मैंने उससे कहा कि भाग जाओ। वह हवा हो गई।

मैं अकेला कुरसी पर बैठा सोच रहा था—कुछ चिन्तित और शायद

थोड़ा उदास भी, कि इतने में श्रीमतीजी आईं और कमरे में रोशनी और ज़िन्दगी फैल गई।

श्रीमतीजी ने मुझसे पूछा कि नाज़ो ने ठीक से मालिश की थी या नहीं। और मेरे उत्तर देने के पूर्व ही उन्होंने माताजी के रोक लेने और न आने का कारण बताया। मैंने श्रीमतीजी से नाज़ो वाली ग़लतफ़हमी का ज़िक्र तक न किया। शायद यह सोचकर कि खुदा जाने, वह क्या सोचेंगी। मैं जानता था कि उस मनहूस नानी ने बदगुमान कर ही दिया है। मैं यदि कह दूँगा, तो बात ख़्वाहमख़्वाह बढ़ जायगी! अतः इसको यहीं ख़तम कर दो।

उसके तीसरे दिन—

इतवार का दिन था। बरामदे के सामने चबूतरे पर कुरसी पर बैठा हुआ मैं नहाकर तौलिया से सिर सुखा रहा था। नर्म-नर्म धूप चटकी हुई थी, और बदन में नहाने के बाद धूप बहुत अच्छी लग रही थी। निकट ही बैठी हुई नाज़ो श्रीमतीजी के जूतों पर पालिश लगा रही थी। श्रीमतीजी कमरे के दरवाज़े पर रंगीन पालिश कर रही थीं। ऐसा जान पड़ता है कि श्रीमतीजी ने मेरे सिर की खुश्की के विरुद्ध जहाद (लड़ाई, जो धर्म के लिये लड़ी जाती है) बोल दिया था। तुरन्त नाज़ो से पुकार कर कहा कि मेरे सिर में तेल डाल दे। यह तो कैसे कहता, कि नाज़ो से अब यह सेवा कभी न लूँगा। अतः कह दिया कि थोड़ी देर बाद देखा जायगा। यह सोचकर कि तब तक स्वयं श्रीमतीजी को फ़ुरसत मिल जायगी।

श्रीमतीजी ने उस दरवाजे पर अपना काम समाप्त किया, तो भीतर के दूसरे दरवाजे पर पहुँचीं। नाज़ो ने दूसरा जूता शुरू किया ही था कि 'अस्सलाम अलैकुम!' कहते हुए रफ़ीक़ आ धमके। नाज़ो को इस प्रकार मेरी देख-रेख में व्यस्त देखकर अंगरेज़ी में बोले—"इसकी आँखें बहुत अच्छी हैं।"

सहसा मुझे उस मनहूस नानी का कथन याद आ गया कि इन आँखों में ज़हर है, अतः मैंने भी अँगरेज़ी में कह दिया—"और ज़हरीली भी।"

वह बोले—"बेशक······मगर यह दिन-दहाड़े!....क्या जोरू पर हल्दू की लकड़ी फेर दी।"

मैंने नाज़ो को सिगरेट के बहाने से भगाया, और उनसे धीरे से कहा—"बेवकूफ़ हो तुम।"

रफ़ीक़ बोले—"इस वक्त हम तुम्हारी जगह होते, और तुम हमारी जगह, तो मेरे बजाय तुम अहमक होते।"

मैंने पूछा—"इससे क्या मतलब है तुम्हारा ?" उन्होंने जवाब दिया—"बनावट को तो डालो चूल्हे में, अब यह बताओ कि कुछ डोरे भी डाले इस पर ?"

कुछ तो बनावटी और कुछ सचमुच की कड़ाई से मैंने रफ़ीक़ का उनकी मूर्खता की ओर ध्यान आकर्षित किया। अपनी सच्चरित्रता का विश्वास दिलाया। नाज़ो की भयानकता की सीमा तक कुरूप सिद्ध किया और यह विश्वास दिलाने की कोशिश की कि इस प्रकार के विचारों को भी मन में स्थान देना व्यर्थ है।

रफ़ीक़ एक ज़िद्दी आदमी ठहरे। उन्होंने तर्कों की भरमार कर दी। एकतरफ़ा विवाद शुरू हो गया। नाज़ो के ओठ तथा नाक विवाद का विषय बन गये, और उनको दोबारा पान के बहाने से बुलाया गया। वह पान लाई, तो रफ़ीक़ ने उसको इतने ग़ौर से देखा कि परेशानी के कारण उसके हाथ से पानों की थाली छूट पड़ी होती। वह तो चली गई, और मैंने दोबारा उसके भद्दे तथा कुरूप चेहरे पर रोशनी डाली और खुले शब्दों में श्रीमतीजी के होते हुए उसको सुन्दर या कम सुन्दर मानने से इनकार कर दिया। परन्तु रफ़ीक़ ने बहस का पहलू बिलकुल ही निराला लिया। उन्होंने मेरे सारे तर्क, यह कह कर रद कर दिये कि पत्नी की और किसी अन्य स्त्री की तुलना ही एक सिरे से ग़लत है। कारण यह कि पत्नी तो अपनी है ही। स्पष्ट है कि मेरी सारी दलीलें एकदम रद हो गईं। नाज़ो के मुकाबले में अब कोई दूसरा मौजूद ही नहीं था, अतः यह मानना पड़ा कि नाज़ो...बस ठीक है!"

जब यह तय हो गया कि ठीक है, तो सवाल यह पैदा हुआ कि अब किया क्या जाय ? मैंने कहा कि कुछ न किया जाय और रफ़ीक़ ने ज़ोर दिया कि केवल उनकी ख़ातिर, केवल उनके कहने से, केवल उनकी फ़रमायश पर कम से कम यह तो जाँच लेना आवश्यक है कि आख़िर तो वह

मिरासिन है ही, बदमाश भी है कि नहीं। वह इस तरह कि किसी मौके पर उससे कुछ कहा जाय। क्या कहा जाय, वह भी मुझे रफ़ीक़ ने बता दिया और मुझसे पक्का वादा ले लिया।

इसके दूसरे-तीसरे दिन रफ़ीक़ मिले। पूछने लगे कि नाज़ो से कहा भी कि नहीं। मैं सचमुच भूल ही गया था। फिर मैंने सोचा, तो अनुचित जान पड़ा। सोचा, कहीं श्रीमतीजी से कह दे, तो और जान मुसीबत में पड़ जायगी। अतएव मैंने रफ़ीक़ से कारण बतलाये। उन्होंने ख़फ़ा होकर मुझे एक फटकार सुनाई और कहा—"तुम बड़े नातजुरबेकार हो।" यह कहकर फिर मुझसे पक्का वायदा ले लिया। इसके चौथे ही दिन एक विचित्र घटना घटी।

तीसरा अँधेरा

दिसम्बर का महीना था और महावट की रात। नन्हीं-नन्हीं बूँदें बाहर वृक्षों पर गिर-गिर कर राग गा रही थीं। शीतल पवन का तेग़ा रूई और ऊन को काटता हुआ जाकर हड्डी के गूदे पर बोलता था। बला की सरदी थी।

कमरा चारों ओर से बन्द था। श्रीमतीजी ने खिड़की खोलकर बाहर देखा और मुझे भी दिखाया। घनघोर घटा छाई हुई थी। हवा सायँ-सायँ कर रही थी। बँगले के सामने दूर तक जंगल और खेत के दृश्य एक भयानक अंधकार में डूब कर रह गये थे। अँधेरे के भयानक दानव का राज्य था। बड़ी भयानक और अँधेरी रात थी। वही लोग इस अन्धकार का अनुमान कर सकते हैं, जिनका कमरा मकान से बिलकुल अलग हो और उसका रुख़ जङ्गल की ओर हो।

श्रीमतीजी ने इस भयानक अँधेरे को देखकर एक फुरहरी लेकर कहा—"ख़ुदा की पनाह।" और खिड़की बन्द कर दी।

मज़ा यह कि अभी शाम ही थी, दस भी नहीं बजे थे। इतने में नाज़ो खाना लेकर आई। कुछ सरदी के कारण श्रीमतीजी के सिर में दर्द था, अतः श्रीमतीजी ने खाने से इनकार कर दिया। खाने के बजाय, उन्होंने कहा कि मैं काढ़ा पियूँगी।

सोलह बादामों को पीस कर छटाँक भर मक्खन में मिश्री मिलाकर घोट-घाट कर, बघार कर पीया जाय, तो सिर का दर्द जाता रहता है। मुझे खाना खिलाकर नाज़ो हरीरा तैयार करने गई। और इधर मैंने छोटी मेज़ अपने सिरहाने रख कर उस पर लैम्प रक्खा और तकिये से लग कर क्लास की एक किताब पढ़ने लगा। श्रीमती ने पहले तो कस कर अपने माथे पर रूमाल बाँधा और फिर अपने पलंग का परदा धीरे से उठाकर कि कहीं हिलने से दर्द न पड़ जाय, लिहाफ़ में अच्छी तरह सिमट कर लेट गईं।

रात का सन्नाटा था। बाहर से हवा की तेज़ी की आवाज़ आ रही थी। ऐसा लगता था मानो वृक्षों तथा अन्धकार में युद्ध हो रहा है। मैंने श्रीमती जी की ओर देखा, परदे की जाली से। उनका चेहरा गतिशील था और प्रकाश उनके गम्भीर तथा पवित्र चेहरे पर नाच रहा था। कितनी ख़ामोशी से लेटी हुई थीं।

पाँच मिनट भी मुश्किल से बीते होंगे कि श्रीमतीजी ने कहा—"तुम ज़ोर से मत पढ़ो। हमारे सिर में दर्द होता है।"

मैं श्रीमतीजी का कोई अपना सम्बन्धी तो था नहीं, जो इस बात पर ख़फ़ा हो जाता। मैं तो पति था। गुनगुना कर धीरे-धीरे पढ़ रहा था। अतः जवाब में मैंने बिना श्रीमतीजी की ओर देखे हुए कहा—"हुश !" परन्तु फिर भी आज्ञा का पालन करते हुए और भी धीरे-धीरे पढ़ने लगा।

इस तरह कोई पाँच मिनट भी न बीते होंगे, कि लैम्प की बत्ती बोली—"भक !"

श्रीमतीजी चौंक पड़ी और बोलीं—"अरे।"

मैंने धीरे से ज़रा लैम्प की बत्ती को कम किया। श्रीमतीजी ने अपने तकिये पर कोहनी टिका कर लैम्प की ओर से कुछ निराश होकर कहा—"यह लैम्प बुझ जायगा।"

"बुझ जाने दो।" मैंने बेपरवाही से कहा और फिर किताब की ओर आकृष्ट हुआ। श्रीमतीजी भी पूर्ववत् लेट रहीं।

इतने में नाज़ो हरीरा लेकर आई। मैंने श्रीमतीजी की ओर अर्थपूर्ण

दृष्टि डाली। श्रीमतीजी समझ गईं। मुस्करा कर बिगड़ कर कहने लगीं—"फेंक दूँगी प्याला!"

मैंने कहा—"ख़ुदा के वास्ते यह दवा है, इसे पी लो।"

वह हँसी को रोकती रहीं और धीरे-धीरे पीना शुरू किया। मैं बार-बार श्रीमतीजी की ओर देख रहा था और मुस्करा रहा था। उन्होंने कहा—"तुम्हारी नज़र लग जायगी, यह लो।" यह कह कर बाक़ी बचा हुआ हरीरा मुझे दिया। मैं सचमुच इसकी राह देख रहा था। मैंने ले लिया और इधर प्याला मुँह से लगाया है कि लैम्प की बत्ती फिर से बोली—"भक्!" इस बार ऐसे कि श्रीमतीजी सचमुच उछल पड़ीं। मैंने फिर बत्ती कम कर दी।

लैम्प अब ख़ामोशी से जल रहा था। श्रीमतीजी के सिरहाने जालो में नाज़ो बैठी श्रीमतीजी का सिर दबा रही थी। पर दो बार बत्ती कम करने के कारण रोशनी कम थी। मैंने धीरे से बत्ती को ज़रा तेज़ किया। लैम्प पूर्ववत् ख़ामोशी से जलता रहा।

लैम्प ख़ामोशी से कोई पन्द्रह मिनट जलता रहा। श्रीमतीजी की आँखें बन्द थीं। एकदम से लैम्प ज़ोर से भभका। श्रीमतीजी उछल पड़ीं। लैम्प ने अब ख़ूब भभकना शुरू किया। मैंने बत्ती कम कर दी, तो उसने फुरहरियाँ लेनी शुरू कीं। नन्हीं-नन्हीं फुलझड़ियाँ छोड़ कर दीपक-राग गाने लगा। अब जो मैं बत्ती और कम करता हूँ, तो वह ज्याद होती जाती है। 'भक-भक' करके एञ्जिन की तरह लैम्प ने अन्तिम साँस ली, और एक 'लपक' के साथ बुझ गया—अँधेरा घुप्!

श्रीमतीजी ने नाज़ो से कहा—"कमबख़्त, ला जल्दी दियासलाई की डिबिया।"

मेरे तकिये के नीचे दियासलाई मिली नहीं। नाज़ो सामने आलमारी से दियासलाई की डिबिया लेने गई। दियासलाई का मिलना बहुत आसान था। आलमारी के ऊपर के तख़्ते पर बायें हाथ को जहाँ गिलास रक्खा रहता है, उससे ज़रा हटकर बिस्कुट के डिब्बे के पास ही चार-पाँच चीज़ों के बीच कहीं न कहीं दियासलाई की डिबिया भी रक्खी है। और मान लीजिये कि वहाँ न मिली, तो नीचेवाले तख़्ते में होना तो आवश्यक है।

अब श्रीमतीजी नाज़ो को दियासलाई के पते पर पते देती हैं, परन्तु उस 'अन्धी' को दियासलाई मिलती ही नहीं, और इधर अँधेरे के कारण श्रीमतीजी का जी है कि उलटा आता है। अँधेरे का यह हाल कि हाथ को हाथ नहीं सूझता। मैंने तीसरे पहर स्वयं दियासलाई आलमारी में रक्खी देखी थी। यहाँ तक कि इस अँधेरे में भी मुझे लग रहा है कि जैसे वह रक्खी है।

श्रीमतीजी ने और मैंने जब देखा कि 'अन्धी' नाज़ो को दियासलाई नहीं मिलेगी, तो इधर मैं उठा और उधर वह नाज़ो को कोसती हुई उठीं।

श्रीमतीजी ने अँधेरे में मुझसे कहा—"तुम किधर हो?" और यह कहती हुई मसहरी से उठीं।

मैंने कहा—"यह क्या हूँ,...इधर।"

श्रीमतीजी रेंग कर टटोलती हुई आगे पहुँचीं और कुरसी बीच में पड़ी थी, उससे उलझ कर गिरीं। एक तो सिर में दर्द, फिर अँधेरे की तकलीफ़ और दियासलाई न मिलने की झुंझलाहट, इस पर इस तरह गिरना। मेरा कर्त्तव्य आप समझ सकते हैं कि क्या था! मैं लपका उन्हें सँभालने। उधर नाज़ो ने देखा कि उसकी मालिका गिरीं और उफ़ करके गिरीं, अतः वह बेचारी भी श्रीमतीजी को सहारा देने या उठाने को बढ़ी। परन्तु अँधेरा तो जनाब अँधेरा ही होता है। परिणाम यह कि श्रीमतीजी के धोखे में अँधेरे में मुझसे श्रीमतीजी के बजाय नाज़ो पर 'स्नेहपूर्ण हाथ' फिर गया। और साथ ही श्रीमती झल्ला कर उठीं हो थीं, उन्होंने नाज़ो समझ कर दिया मेरी पीठ पर एक घूँसा कस कर यह कहते हुए कि—"कमबख्त को दियासलाई ही नहीं मिलती।"

उधर मेरे 'सहायक' हाथों से नाज़ो एक "हूँ" करके उछल गई और मैं श्रीमतीजी का घूँसा खाकर चिल्लाया—"पगली कहीं की...मैं हूँ।"

श्रीमतीजी के मुँह से निकला—"अरे!" और अँधेरे में हम दोनों के ठहाकों से कमरा गूँज गया। श्रीमतीजी का मारे हँसी के बुरा हाल था।

"किधर हो तुम?" उन्होंने हँसी को रोकते हुए कहा।

"यह क्या हूँ!" मैंने कहा।

"ख़ुदा के वास्ते दियासलाई,...इस कमबख़्त को मिलती ही नहीं दियासलाई।"

इतना कह कर श्रीमतीजी स्वयं आलमारी की ओर बढ़ गईं। कुछ खटपट की आवाज़ आई और फिर दियासलाई के बक्स की मनोहर आवाज़।

"इस कमबख़्त को दियासलाई ही नहीं मिलती थी...यह लो।" कह कर श्रीमतीजी ने दियासलाई देने को मेरी ओर हाथ बढ़ाया। बेवकूफ़ी तो देखिये कि स्वयं न जलाई, क्योंकि दूसरे हाथ से बिस्कुट का डिब्बा और गिलास आदि सँभाले थीं। अब यथार्थ यह है और मैं सच कहता हूँ कि घोर अँधेरे के कारण आँखों में तो तारे नाच रहे थे, और अधिक से अधिक ख़ाली छाया की भाँति श्रीमतीजी और नाज़ो का अस्तित्व स्याही में एक कल्पना की भाँति डोल रहा था। उधर श्रीमतीजी ने मेरी ओर दियासलाई वाला हाथ बढ़ाया और दियासलाई सचमुच मेरी ऐनक के पास पहुँची। परन्तु मुझे ख़बर नहीं। और मैंने जो उधर से दियासलाई लेने को हाथ बढ़ाया, तो दुर्भाग्य तो देखिये कि वह पहुँचा नाज़ो के कान के आस-पास। और कान की मालिका श्रीमती जी को समझ कर मेरे नालायक़ हाथ ने लगे हाथों कान के पश्चिमीय दिशा के जङ्गल में विचरने का विचार ही किया था कि कान तो था नाज़ो का, अतः उसने एक दबी और घुटी हुई 'उँह' के साथ मेरे हाथ को जो तेज़ी से झटका, तो श्रीमतीजी का हाथ दियासलाई और ऐनक को उड़ाता हुआ चला गया।

"अरे, मेरी ऐनक!" बौखला कर मैंने अपनी नाक टटोलते हुये कहा।

"चुड़ैल, कमबख़्त! यह क्या हुआ!" श्रीमतीजी के मुँह से निकला।

मैंने कहा—"हिलना मत अपनी जगह से, नहीं तो मेरी ऐनक की ख़ैर नहीं। खड़ी रहो ज्यों की त्यों।"

श्रीमतीजी नाज़ो पर बरस पड़ीं—"अरी कमबख़्त, यह तूने इतने ज़ोर से क्यों हाथ चलाया! अन्धी कहीं की...आई वहाँ से पटेबाज़ी करने... अरी, बोलती क्यों नहीं चुड़ैल...अँधेरे में कोई हाथ नचाता है ऐसे...क्या बात थी..."

मैं उधर अपनी ऐनक टटोल रहा था। श्रीमतीजी बोलीं—"तुम क्या ऐनक ढूँढ़ रहे हो?"

मैंने कहा—"हाँ।"

वह बोलीं—"वह तो मैं समझी ही थी। अँधेरे में अक्ल भी खो बैठे। अरे, पहले दियासलाई देखते।"

मैंने कहा—"तुम स्वयं बिलकुल मूर्ख हो। मैं तो ढूँढ़ रहा हूँ, दियासलाई भी मिल जायगी, तो क्या छोड़ दूँगा उसे।"

"यह तो मैं भी जानती हूँ, पर दियासलाई इधर कहाँ हो सकती है। ऐनक को छोड़ो और उधर देखो दियासलाई को...किधर हो! गिरे अब तुम भी उलझ कर...(नाज़ो से) किधर गई कमबख्त...देख रही है, बीच में से कुरसी नहीं हटा देती....उधर कर दे....यह इधर....तू मत ढूँढ़ कुछ।"

अब दुर्भाग्य देखिये कि श्रीमतीजी के कुरसी बताने की भूल थी या उस अँधेरे में स्वयं नाज़ो का अन्धापन। कुछ भी हो, मैं झुका हुआ था और जिसे उसने कुरसी समझा, वह मैं ही था। अतः नाज़ो ने कुरसी के धोखे में अब पकड़ी मेरी नाक! परन्तु जिस प्रकार जलते तवे को आदमी छूते ही नहीं, बल्कि छूने से पहले ही छोड़ देता है या हाथ आप ही आप उछल जाता है, इसी तरह नाज़ो के साथ हुआ, कि मेरी ठोड़ी पर ज़ोर का एक 'घिस्सा' लगा। "अरे!" मेरे मुँह से निकला। परन्तु साथ ही मुझे दियासलाई मिल गई और जल्दी से मैंने दियासलाई खींच कर मानो दिन कर दिया। दियासलाई मेरे हाथ में थी और उसकी रोशनी श्रीमतीजी और नाज़ो पर पड़ी। दोनों की आँखें चौंधिया-सी गईं। मैंने दियासलाई के बुझते हुए प्रकाश में नाज़ो के चेहरे को देखा, जब कि उसने मेरी ऐनक उठाकर दी। उसकी आँखों में श्रीमतीजी की पड़ोसिन नानी वाला ज़हर-सा दिखाई दिया। श्रीमतीजी ने दियासलाई का बाक्स मुझसे लेकर दूसरी दियासलाई खींच कर मोमबत्ती में लगा दी और दिन हो गया।

अँधेरे की रहस्यपूर्ण कलिमा में प्रकाश के भाले लगे, और कमरा उस मद्धिम प्रकाश में आलोकित हो उठा। श्रीमतीजी ने नाज़ो को भीतर लालटेन लेने को भेजा, और मैं अपने पलंग पर बैठ कर सोचने लगा। मेरे कान में

उन बड़ी बी के शब्द गूँजते प्रतीत हुए। क्या मैं सचमुच साँप हूँ जो मौक़ा पाते ही डस लूँगा! क्या नाज़ो की 'उठती जवानी' इतना आकर्षण रखती है कि मैं अपनी प्यारी पत्नी को छोड़ बैठूँगा! लाहौलवला कूवत! कहाँ आकाश, कहाँ पाताल! कहाँ मेरी अनुपम सुन्दरी श्रीमतीजी और कहाँ यह कुरूप नाज़ो। अन्त में मैंने यह निर्णय किया कि श्रीमतीजी की पड़ोसिन, नानी की बच्ची कहीं की, एक लड़ानेवाली कुटनी मालूम होती है, बल्कि है सचमुच।"

दूसरे दिन की बात है कि मैं अकेला कुरसी पर बैठा पिछली रात की घटनाओं पर विचार कर रहा था। अँधेरे की गड़बड़-सड़बड़ में जो कुछ भी साधारण घटनाएँ घटी थीं, वह होती ही रहती हैं; पर श्रीमतीजी से मैंने इस बात का ज़िक्र नहीं किया। अब इस समय सोच रहा था कि कह दूँ या नहीं। कोई बात तो है नहीं कहने की, कि श्रीमतीजी के धोखे में नाज़ो का कान मरोड़ दिया, या नाज़ो ने कुरसी के धोखे में मुझे खींच लिया। फिर ख्याल आया कि कहीं नाज़ो ने स्वयं कह दिया तब क्या होगा! इस ख्याल से जी को कुछ बेचैनी-सी हुई। कहने को तो मैं फ़ौरन कह देता, उसी समय कह देता; पर मुझे एक ख्याल था। वह यह कि श्रीमतीजी की मुँहलगी पड़ोसिन ने क्या मेरे और नाज़ो के बारे में श्रीमतीजी से नहीं कह दिया था, और अब मैं डर रहा था कि एक ज़रा-सी घटना भी श्रीमतीजी को कहीं से कहीं पहुँचा देगी, और व्यर्थ ही उनके मन को ठेस लगेगी।

मैं इसी चिन्ता में डूबा था कि भाई रफ़ीक़ आ गये। ख़ूब मौक़े से आये—मैंने मन में कहा और तुरन्त उनको पिछली रात के अँधेरे में हुई दिलचस्प घटनायें सुनाईं। वह ख़ूब हँसे, और मैं भी ख़ूब हँसा। मुझे उन्होंने राय दी कि श्रीमतीजी से भूलकर भी इसका ज़िक्र न किया जाय, बल्कि स्वयं नाज़ो को भी चुपके से मना कर देना चाहिये कि वह भी श्रीमतीजी से न कहे।

इसके बाद ही नाज़ो के विषय में और बातें होती रहीं। मामला असल में यह पेश था कि इसका पता लगाया जाय कि वह कहीं सचमुच 'बदमाश'

तो नहीं है। नाज़ो को बुलाया गया। उसको ग़ौर से देख कर बिलकुल ही एक नये कोण से उसके चेहरे को देखने की रफ़ीक़ ने फ़रमायश की, और इसका मैंने पक्का वादा किया। रफ़ीक़ बहुत जल्द चले गये, परन्तु नाज़ो से वह बात कहने का कड़ा तक़ाजा कर गये।

रफ़ीक़ तो चले गये, परन्तु अब मैं इस फ़िक्र में था कि नाज़ो से ज़रूर-ज़रूर कह देना चाहिये कि अँधेरे की ग़लतफ़हमी की बात श्रीमतीजी को बता कर उनको दुख न पहुँचाना।

मैं इसी फ़िक्र में था कि एक सुनहरा मौक़ा हाथ आ गया। श्रीमतीजी रसोईघर में थीं, और उन्होंने नाज़ो से कहा कि वह मेरे तकिये के नीचे से कुंजी ले आये—जब कि मैं तकिया लगाये उस समय पलंग पर लेटा था। नाज़ो आई और पास पहुँच कर ज़रा ठिठक कर रह गई। मैंने कारण पूछा, तो उसने काम बताया। दोनों हाथ मेरे किताब से घिरे हुए थे, अतः मैंने सिर उठाया कि कुंजी निकाल ले। वह सिरहाने से कुंजी निकालने के लिये झुकी। दुर्भाग्य से उसका चेहरा उस नये कोण से मुझे दिखाई दिया, जो रफ़ीक़ ने बताया था। अतः मैंने देखा कि उसका चौड़ा मुँह इस तरह देखने से बिलकुल चौथाई रह गया। नाक के अस्तित्व को अलग स्वीकार करना पड़ा, और बड़ी-बड़ी आँखें लम्बी-लम्बी पलकों की चिलमन में बहुत सुन्दर प्रतीत हुईं। उसने कुंजी निकाली, तो मैंने झट से एक हाथ से किताब छोड़ कर ज़ंजीर पकड़ ली और उससे कहा—"सुन तो····रात के अँधेरे की गड़-बड़ का तूने···कह तो नहीं दिया?"

एक हाथ से वह कुंजी पकड़े थी और दूसरा सिरा मेरे हाथ में था। उसने जवाब देने में संकोच किया, तो मैंने धीरे से कुंजी की ज़ंजीर झटक कर कहा—"अरे कमबख्त, कहीं कह मत देना!" यह सुन कर वह मुस्कराई और कुंजी उसने ज़रा खींची, तो मैंने छोड़ दी। उसने जाते-जाते दरवाज़े पर पहुँच कर घूम कर देखा। वह मुस्करा रही थी। मैंने घूँसा दिखाया—"ख़बरदार, कहना मत!" वह चली गई, और मैं अपने जीवन के पहले अनुभव से एक अजीब घबराहट और परेशानी में एकदम पड़ गया। बदन

के रोंगटे खड़े हो गये कि कहीं श्रीमतीजी से ये सब बातें जाकर न कह दे। तन-बदन में पसीना-सा आ गया। दिल धड़कने लगा।

ऐसे अवसर पर कि मैं अभी बदहवासी की ही हालत में था कि श्रीमतीजी की आवाज़ बरामदे के मोड़ पर सुनाई दी। मैं सन्न-से हो गया। या अल्लाह! क्या नाज़ो ने सब जाकर कह दिया। तेज़ी से श्रीमतीजी के पाँव की चाप सुनाई दी। किस तेज़ी से! शायद ग़ुस्से में भरी आ रही हैं। शायद कह दिया सब कुछ नाज़ो ने! बस, मैं क्या कहूँ कि मेरा क्या हाल था। दिल हिल गया, साँस रुकती हुई सी प्रतीत हुई! अब क्या होगा! यह सोच कर मैंने जल्दी से किताब रख कर रज़ाई में मुँह छिपा लिया।

पैर की आहट चारपाई के क़रीब हुई, बिलकुल पास आकर रुक गई। मैं सचमुच सन्नाटे में आकर रज़ाई के भीतर सुन्न होकर रह गया।

मैं इसी सन्नाठे में था कि श्रीमतीजी ने एकदम से ज़ोर से मेरा सिर रज़ाई में दबा दिया। हड़बड़ा कर मैंने रज़ाई से सिर निकाला। उनकी हँसी की आवाज़ से कमरा गूँजने लगा। उन्होंने हँसते हुए कहा—"सो रहे थे तुम।"

लाहौल वला क़ूवत! मैं किस ख़याल में था! उनके चेहरे पर तो वही स्वाभाविक प्रसन्नता थी। मैं अत्यधिक प्रसन्न हुआ। दिल को संतोष हुआ कि सब कुछ भय था। नाज़ो ने कुछ नहीं कहा।

चौथा अँधेरा

शाम ही को मैं अनुभव कर रहा था कि यह बड़ी ख़राब बात हुई। एक तरह से मैं नाज़ो के वश में हूँ। हर समय का डर लगेगा कि कहीं वह कह न दे। तबीअत उलझ कर रह गई। प्रश्न यह था कि अब करना क्या चाहिये! ख़याल आया कि स्वयं कह दूँ सब कुछ; पर हिम्मत न पड़ी। यह निश्चय हो गया कि नाज़ो सीधी लड़की है, उसने कुछ न कहा होगा, न कहेगी।

दूसरे दिन की बात है। एक दोस्त के साथ शाम को टहलने जाने लगा। श्रीमतीजी कहने लगीं कि ज़रा मैं भी मामा के घर जाऊँगी।

मैं जब टहल कर लौटा हूँ, तो सड़क छोड़कर खेतों-खेतों हो लिया। इस तरह कि अपने कमरे के सामने जाकर निकलूँ। झुटपुटे का समय था। जङ्गल तथा खेतों में बड़ी तीव्र गति से अँधेरा दौड़ता है। देखते-देखते सन्ध्या की स्याही सारे संसार में फैल गई। वृक्ष बढ़ते हुए अन्धकार में दानव से दीखने लगे। खेतों तथा घास पर हरियाली की जगह स्याही दौड़ गई। चारों ओर आकाश पर स्याही की चादरें उठती मालूम हो रही थीं। मैं घर के पास ही पहुँचा कि सामने मामाजी के बँगले से मैंने देखा कि कोई तेज़ी से निकला। नहर का नाला तेज़ी से पार किया, और तेज़ी से मेरे घर का रुख़ किया। लिबास तो साफ़ नहीं दिखाई पड़ा; पर मैं जान गया कि कौन है। श्रीमतीजी थीं—अकेली। मैंने मन में कहा कि लेना चाहिये इन्हें अँधेरे में। ऐसा डराऊँ कि याद करें! दोनों बँगलों के बीच तीन-चार खेत का फ़ासला है, या फिर विस्तृत अहाते का मैदान इसमें और मिला लीजिये। मैं तेज़ी से दौड़ कर बायें हाथ के खेत में घुस गया। और अब मैंने पहिचान लिया कि वही हैं। लाल रङ्ग की साड़ी पहिने हुये थीं। मैंने तुरन्त पहिचान लिया। वह खेत की मेंड पर तेज़ी से आ रही थीं। मैं दाहिनी ओर खेत में छिप गया।

बजाय मेंड़ से होकर आने के उन्होंने खेत का कोना काटा और बिलकुल ही मेरे निकट से होकर निकलीं। इतने निकट से कि मैंने लाल साड़ी के आँचल को अपने चेहरे के सामने से उड़ते हुये देखा। पलक झपकाते में एक "हाउ" के साथ उछल कर मैंने दोनों बाँहों में उन्हें कस कर जकड़ लिया... उधर से एक चीख़, और इधर मेरे मुँह से ठहाके की आवाज़ निकली, तब कहीं आकर मुझे पता चला कि जिसको मैं इस बेतकल्लुफ़ी और आज़ादी तथा मज़बूती से अपने हाथ में जकड़े हूँ वह श्रीमतीजी नहीं, बल्कि नाज़ो है। लाहौल-वला कूवत! मैंने उसको एकदम से इस प्रकार छोड़ दिया कि वह धम से गिर पड़ी, और इधर मैं आश्चर्य चकित! वह उठी, मैं उसके बराबर आया। कुछ परेशानी के साथ दबी हुई ज़बान से मैंने कहा—"ख़ुदा के वास्ते नाज़ो, इसका...इसका ज़िक्र मत करना। यह साड़ी तूने कैसे पहिन ली।"

वह बोली—"मुझे आज ही दी है।"

मैंने कहा—"मुझे धोखा हो गया...तू कहाँ जा रही है? वह क्यों नहीं आईं?"

हम दोनों घर की ओर जा रहे थे।

वह बोली—"मुझे जल्दी से भेजा कि कमरे में रोशनी कर दूँ और कह दूँ कि वह ज़रा देर से आयेंगी।"

दो-चार क़दम मैं चुप रहा। कह नहीं सकता, उस समय मुझे नाज़ो का साथ क्यों अच्छा लग रहा था, यद्यपि इसका आप विश्वास रक्खें मेरे मन में कोई भी बुरा भाव उत्पन्न नहीं हुआ था। मैंने उससे कहा—"तू डर गई सचमुच।"

"डरा दिया आपने।"........

"तू क्या समझी?" मैंने मन में प्रसन्न हो कर कहा।

"मैं समझी, न जाने कौन है।"

मैंने उसका हाथ पकड़ कर कहा—"अगर तूने कह दिया श्रीमतीजी से, तो बस यह समझ ले कि ख़ैर नहीं है तेरी....कहेगी तो नहीं?"

"नहीं!" उसने हाथ छुड़ाते हुये कहा, और वह तेज़ी से चली। मैं जान-बूझ कर धीमा पड़ गया। वह कुछ आगे हो गई। सहसा मुझे ख़याल आया कि वह जो रफ़ीक़ ने कहा था....बड़ा अच्छा मौक़ा है...क्यों न कह दूँ इससे।

अतएव "सुन तो!" कह कर मैं लपका। पास जो पहुँचा, तो ज़बान लड़खड़ा गई। सब भूल गया कि क्या कहूँ और कैसे कहूँ। हकलाया जा सही, तो विवश हो होकर कुछ और कहने की जगह फिर वही बात कही, यानी—"कहेगी तो नहीं!" इसका उत्तर उसने कुछ आज़ादी से और हँसते हुए कहा—"नहीं कहूँगी।"

मैंने कहा—"अच्छा!" और वहीं का वहीं खड़ा रह गया, जिसमें कि नाज़ो आगे निकल जाय। फिर धीरे-धीरे टहलता हुआ, न जाने किस चिन्ता में डूबा हुआ, अँधेरे में ईंटों और गड्ढों में होता हुआ कमरे में पहुँचा। कमरा ख़ाली था, और लैम्प जल रहा था। मैं कुरसी पर लेट कर आँखें बन्द करके, सिर पकड़ कर लेट गया और एक सोच में डूब गया।

सवाल यह था कि अब मैं नाज़ो के बिलकुल बस में आ गया। यदि बिगड़ गई, तो तुरन्त कह देगी। क्यों न मैं ख़ुद श्रीमतीजी से सब कह दूँ।

मैं नहीं कह सकता कि कितनी देर इसी विचार में डूबा रहा। मैं सो-सा रहा था कि श्रीमतीजी के बूट की तेज, किन्तु मधुर तथा नपी-तुली आवाज़ के खटके से जाग उठा। दरवाज़े में श्रीमतीजी ने प्रवेश किया, तो मुझे ऐसा लगा, मानो स्वर्ग से कोई अप्सरा उतर आई। तेज़ी से चलने के कारण रोशनी में चेहरा तमतमा रहा था, और लाल वस्त्र ने चेहरे पर आग-सी लगा दी थी। इसके साथ ही नाज़ो भी उसी रंग में दाख़िल हुई, वह श्रीमती को लेने वापस चली गई थी। दोनों पारी-पारी इस प्रकार सामने आई कि मुझे मालूम हुआ कि परियों के साथ चुड़ैलें भी होती हैं। लाहौल वला कूवत!

श्रीमतीजी तेज़ी से निकली क्षण भर के लिये गुलसख़ाने में चली गईं, और अब जो मैं नाज़ो को देखता हूँ, तो कितनी सादगी और तमीज़ के साथ उसने खाने के लिये मेज़ को हटाया है! मेरी ओर आँख उठाकर देखा, तो अपने को मुझे देखता पाया। इसके अनुभव ने शायद उसे कुछ परेशान-सा कर दिया; अतः वह तेज़ी से चली गई।

तीन दिन के ख़्याल और उलझनों ने मुझे न जाने किस परेशानी में डाल दिया। हर समय नाज़ो के मामलों की फ़िक्र में उलझा-सा रहता। उलझकर रह गया। मुझे क्या करना चाहिये? यह सवाल था और इसके साथ-साथ एक ट्रेन विचारों की आती थी। यह कब का तय हो चुका था कि श्रीमतीजी की सूरत-शक्ल से कुछ बहस नहीं। नाज़ो कुरूप बिलकुल नहीं है। फिर वैसे भी एक ऐसी नौकरानी है कि नामुमकिन है कि कोई ऐसी सभ्य और आज्ञाकारिणी (बल्कि कुछ-कुछ मोहिनी भी) हो सके। वह कमरा और हर चीज़ ठीक रखती है। कपड़ों पर ब्रश करती है और हर चीज़ को रखती है। सुना करते हैं कि रईसों के यहाँ नौकरानियाँ सभ्य, साफ़-सुथरी और आकर्षक होती हैं। सचमुच वही मामला यहाँ है, मानो हम रईस हैं, कम से कम देखने में तो वही शान नज़र आ रही है।

अब एक और मज़ा देखिये कि रफ़ीक़ से इस आख़िरी ग़लतफ़हमी

का कुछ ज़िक्र न किया। जो बात वह कहलाना चाहते थे, उसके बताने का क़िस्से से सम्बन्ध नहीं, पर इसकी चिन्ता थी। दिन में दर्जनों मौके मिलते थे और अब तो इतनी हिम्मत थी कि मिनट भर को भी मौक़ा मिले, तो कह दूँ। दिन में दस बार मौक़ा मिलता, परन्तु कोई बात न कही जाती। अतः वही बात कह देता कि—"कहना मत!" अतएव एक दिन नाज़ो खड़ी रज़ाई को पलंग पर जमा रही थी कि मैंने फिर कुछ कहना चाहा। परन्तु आख़िर को यही कहा—"श्रीमतीजी से मत कहना!"

बार-बार सुनकर वह भी शायद तंग आ चुकी थी। कुछ उसकी तबीअत भी मौज में होगी, अतः उसने मुस्कराकर कहा—"कह दूँगी!"

मैंने यह सुना, और सहसा मेरी आँखों के सामने उसके चेहरे की मुस्कराती हुई शरारत क्या से क्या मालूम हुई। और तो कुछ नहीं, मैंने इसकी दाद इस तरह दी कि "कमबख़्त!" कहकर उसकी पीठ पर एक घूँसा दिया ज़ोर से और वह हँसती हुई "आह!" कहकर दोहरी हो गई।

"मार दिया ज़ोर से!" हसते हुए उसने शरारत से कहा—"कह दूँगी सब कुछ!"

मैं इतनी-सी बात से इतना घबरा गया कि सीधा कमरे से भागा, यह देखने को कि श्रीमतीजी कहाँ हैं। दौड़ कर दूसरी ओर से घर में गया। श्रीमतीजी घर के काम में व्यस्त थीं। कह नहीं सकता कि मुझे यह देख कर कितना इतमीनान हुआ कि वह कमरे से कितनी दूर और बेख़बर थीं, जब मैंने नाज़ो के घूँसा मारा है।

अफ़सोस कि यह एक परिणाम का प्रारम्भ था।

पाँचवाँ अँधेरा

मैं यारों के साथ चार दिन की छुट्टी में देहली जा रहा था। इस बीच में न जाने कितनी बार नाज़ो के घूँसे लगा चुका था। ले-दे कर यही भोंडा मज़ाक मुझे आता था। रफ़ीक़ कई बार तकाज़े कर चुके थे; परन्तु जो कुछ वह चाहते थे, वह कहने की अब तक तो मुझे हिम्मत न पड़ी थी, और अब

तो ऐसा मालूम होता था कि हम फ़िज़ूल डरते हैं। आख़िर डर की इसमें बात ही क्या है!

श्रीमतीजी ने पूछा कि कब लौटेंगे, तो कह दिया था कि अमुक तारीख को दिन के दो बजे वाली गाड़ी से आयँगे। यह बिलकुल झूठ कहा था, यद्यपि उससे पहले रात ही को डेढ़ बजे वाली एक्सप्रेस से आना तय था। यह चालाकी से कहा था। अब इसकी फ़िक्र थी कि नाज़ो को अपने आने का ठीक समय बता दिया जाय। पर किस तरह, कैसे और किन शब्दों में! यही समस्या सामने थी।

दिन भर इसी फ़िक्र में रहा। बात करने का मौका तो मिला; परन्तु सब बातों के कहने का मौका न मिला, यहाँ तक कि शाम हो गई। श्रीमतीजी घर में बैठी दही-बड़ों के लिये पिठी फेंट रही थीं और बेतरह व्यस्त थीं। मैं उठकर बाहर चला कि श्रीमतीजी ने फिर मेरे सिरहाने से रसोईघर की आलमारी की कुँजी मँगाई। मैं दरवाज़े की चौखट पर पहुँच ही चुका था, अतः तेज़ी से बाहर निकल गया और हवा की तरह लपक कर पहुँचा, तुरन्त लालटेन बुझा दी और अपने बिछौने पर रज़ाई ओढ़ कर लेट गया अँधेरे में। मेरा दिल धड़क रहा था, और मैं क्षण गिन रहा था कि नाज़ो आई। 'लालटेन कौन ले गया!' उसने मानो अपने आप से कहा और यह कह खटपट करती लौट गई। परन्तु फिर तुरन्त ही आई। मेरा कलेजा बल्लियों उछल रहा था। सीधी वह मेरे सिरहाने टटोलती हुई आई। उसका हाथ मेरे तकिये के नीचे आया ही था कि मैंने अपना हाथ अँधेरे ही में "श्रीमतीजी से मत कहना!" कहते हुए उसकी ओर बढ़ाया। वह कुछ चौंक-सी पड़ी। मैंने हाथ से उसको अपनी ओर घसीटा, तो वह बल खाकर मेरी ओर आ गई; परन्तु अपना सिर बिलकुल दूसरी ओर कर लिया। मैंने उससे काँपते हुए स्वर में कहा—"परसों रात को दो बजेवाली गाड़ी से आऊँगा।.... कचहरी वाले कमरे........"

इतना कह कर मैंने उसको अपनी ओर घसीटना चाहा जोर से! पर वह जोर करके कुँजी लेकर निकल गई। मैं एकदम से तड़प कर उठा। जल्दी से लालटेन जलाई और परेशानी दूर करने को एक गिलास ठण्डा

पानी गले में उँडेल लिया। कुछ देर टहलते रहे, फिर तबीअत की घबराहट दूर करने के लिये बड़े इतमीनान से लालटेन को धीमी करके और लैम्प जलाकर मेज के पास किताब लेकर बैठ गया।

मगर जनाब, कहाँ का पढ़ना और कैसा पढ़ना! किन-किन विचारों में डूब गया और कहाँ से कहाँ पहुँचा। दुर्बलता जीत गई, हृदय भर आया, मनुष्यता को अपने केन्द्र से डगमगाते हुए पाया, यहाँ तक कि मेरी किताब पर टप से एक आँसू गिरा। मैं तकलीफ़ से व्याकुल हो गया। अपनी प्रिय पत्नी के अमर प्रेम के दर्द की हृदय में खटक का अनुभव किया। वह जो मेरे प्रेम में डूबी हुई है, वह जिसने मुझे अपने जीवन का लक्ष्य बनाया है, वह जिसका अस्तित्व मेरे लिये संसार में सबसे बड़ी चीज़ है, मैं उससे सब बातें क्यों न कह दूँ। अतएव बहुत जल्द यह निश्चय कर लिया कि अभी-अभी सब कुछ कह दूँगा। दिल को एक दम से शान्ति प्राप्त हुई, चित्त प्रसन्न हो गया। उठकर भीतर गया, तो श्रीमतीजी को दही-बड़े बनाने में बुरी तरह व्यस्त पाया।

दस बजे की गाड़ी से जा रहा था। चलते-चलते इरादा किया कि कह दूँ, परन्तु रुक गया। श्रीमतीजी ने फिर पूछा कि अब आओगे, तो बिना सोचे-समझे वही जवाब दिया जो पहले दिया था। क्योंकि अब इरादा भी वही था। श्रीमतीजी का चेहरा बेहद दिलचस्प और बेहद गम्भीर मालूम दिया, जब मैंने कहा कि "अच्छा विदा! सलाम अलैकुम!"

हम दोनों बड़े जोश के साथ एक दूसरे के गले मिले, और मैं विदा हो गया।

छठा अँधेरा

देहली पहुँचकर क्या आवश्यक काम किये गये, यहाँ इसके वर्णन की ज़रूरत नहीं। यह कहिये कि घमाचौकड़ी में सोचने तक का मौक़ा न मिला। परन्तु दूसरे दिन रात गये जब सोने को लेटा, तो विचित्र-विचित्र ख़यालों में डूब गया। किसी ने कहा है कि अँधेरे में पत्नी का प्रेम बहुत सताता है, और उसका ख़याल बहुत आता है। कमरे में उस समय बहुत अँधेरा था

और श्रीमतीजी की बहुत याद आई। बहुत सोच-विचार के बाद निश्चय किया कि भूल अपनी है या फिर उस मिरासिन की बच्ची की ख़ुद की धूर्तता! अब जो हुआ सो हुआ। अब इस नागवार सिलसिले को ख़त्म करना चाहिये। वैसे तो ज़बानी यह होने से रहा (और उस समय जोश भी था)। ख़याल आया कि अभी-अभी ख़त लिखना चाहिये। सारा हाल शुरू से आख़िर तक लिख देना चाहिये कि नाज़ो वास्तव में अव्वल दर्जे की बदमाश है। सुबह ख़त डाक में डाल दिया जायगा और शाम को चार बजे पहुँच जायगा। दूसरे दिन हम ख़ुद पहुँच जायँगे। अतएव यह निश्चय करके उठा, बत्ती जलाई और एक ऐसा लम्बा-चौड़ा पत्र लिखा कि मन हलका हो गया। दो बार उसको पढ़ा और फिर बन्द करके रख लिया कि सुबह तड़के ही इसको डलवा देंगे। दिल को इतमीनान हो गया, और सो गया। रात को एक स्वप्न देखा, क्या देखा, यह नहीं बताया जा सकता। सुबह आँख खुली, तो स्वप्न का ख़याल करते हुए यही ज़रूरी मालूम हुआ कि ख़त डलवा दिया जाय, अतएव होटल के नौकर को ख़त दिया कि मैनेजर साहब से टिकट लेकर जल्दी से जल्दी छोड़ आओ, और स्वयं ग़ुसलख़ाने में चला गया।

अब ग़ुसलख़ाने से जो निकला, तो क्या देखता हूँ कि यार लोग कमरे में खड़े सिर जोड़े मेरा ख़त पढ़ रहे हैं। मुझे देखते ही एक ठहाका लगाया। ग़ुस्सा मुझे भला कैसे आता, या कहिये कि आने कब दिया जाता! ख़त पढ़ा जा चुका था। मैंने नैतिकता पर भाषण देते हुए ख़त छीन लिया। एक ने कहा—"यार, बड़े घुटे हुए निकले!"

दूसरे साहब बोले "अकेले ही अकेले .....?"

एक और महाशय कहने लगे—"हो न अहमक़!"

"क्यों!" मैंने पूछा।

"जोरू चाँद गंजी कर देगी! आये वहाँ से चोचले में! क्या यह समझते हो कि जोरू इस ख़त को पाकर ख़ुश होगी!"

मैंने कहा—"क्यों नहीं।"

वह बोले—"ज़रूर! (इस शब्द पर बहुत ज़ोर दिया) तुम्हें इतनी

अक्ल न आई कि भई अगर ग़लती हुई और सचमुच मामले को दबाना है तब यह सब झगड़े खड़े करने से आख़िर क्या फ़ायदा ! मामला ख़तम कर रहे हो या शुरू !"

दूसरे साहब बोले—"मामले को यहीं ख़तम कर दो, नहीं तो..."

"क्या नहीं तो !"

"नहीं तो यह कि यह ख़त पाते ही जोरू साहिबा जूतियों में दाल बाँटना शुरू कर देंगी, और न अब्बा से पिटवाया हो तो मेरा नाम नहीं।"

"क्या कह रहे हो तुम लोग !" मैंने कहा।

"ठीक कह रहे हैं, मियाँ ! घर से निकाले जाओगे इन बातों पर ! वह ख़त मिलते ही नाज़ो को मारेगी और फिर बात छिपी नहीं रहेगी। नतीजा फिर समझ लो !"

अतएव इस प्रकार जो दोस्तों ने समझाया-बुझाया और सारा हाल मालूम किया, और फिर मसख़रेपन के बाद यह सलाह दी कि मामला चूल्हे में झोंको और क़िस्सा ख़तम करो। अतएव इस क़िस्से को ख़तम किया। मालूम हुआ कि सचमुच भूल कर रहा था, परन्तु ख़त जेब में रखा रहने दिया।

देहली से चलने की राय हुई, तो मैंने कोशिश की कि इस तरह रवाना होना चाहिये कि उस समय पहुँचें, जिसका श्रीमतीजी से वादा था, परन्तु और साथी न माने और रवानगी वही रही कि रात को दो बजे पहुँचे, जिसका नाज़ो से वादा था। अकेले भला कौन जाने देता ! लाचारी थी।

मेरा बिस्तर आदि सब एक और महाशय के होलडॉल में था। इसी प्रकार दूसरा सामान भी दूसरों के सूटकेसों में था। मैं तो बिलकुल ख़ाली हाथ था।

रात के ढाई बजे होंगे, जब मैं बँगले के अहाते में पहुँचा। विभिन्न विचार मस्तिष्क में चक्कर लगा रहे थे। ताँगे को फाटक से ही बिदा किया और सीधा अपने कमरे में पहुँचने की नीयत बाँध कर धीरे-धीरे सोचता हुआ चला।

रात अँधेरी थी। कड़ाके की सर्दी थी, परन्तु हवा बन्द थी। चारों

ओर घोर निस्तब्धता छायी थी, और अन्धकार में बँगले का दृश्य एक टीले के समान दीखता था। इधर-उधर पेड़ एक असाधारण स्याही में लिपटे हुए अन्धकार के सन्तरी बने खड़े थे। मैं गले में ऊनी मफ़लर लपेटे हाथों को सरदी से बचाने के लिये पतलून को जेबों में डाले, सोचता चला जा रहा था।

जो कुछ भी हो चुका था, वह तो मानो ख़त्म कर ही चुका था; पर सवाल यह था कि वह बदमाश, यानी नाज़ो की बच्ची, क्या सचमुच मेरे आदेशानुसार कचेहरीवाले कमरे में सो रही होगी? देखना चाहिये। फिर सोचा कि मारो गोली!

जब उस स्थान पर पहुँचा कि या तो अब सीधा अपने कमरे की ओर रुख करूँ, या फिर बायें हाथ को घूम कर कचेहरी के कमरे को देखूँ और बताऊँ एक डाँट कसकर नाज़ो को। अतएव उस स्थान पर पहुँचा, तो मानो आप ही आप रुक गया। खड़ा रहा कुछ देर। कभी सोचता कि मारो गोली और मरने दो उसे! कभी ख़्याल होता कि उसकी बदमाशी की पुष्टि के लिए तो कम से कम कुछ करना चाहिये। इस पसोपेश में दो-चार सेकण्ड बीते, कि एकदम से क़दम कचेहरीवाले कमरे की ओर बढ़ गये। तय हो गया कि देखना चाहिये।

बरामदे के निकट पहुँचा हूँ, तो पेड़ों की छाया ने अन्धकार को और भी सघन कर दिया था। हाथ को हाथ न सूझता था। बरामदे में धीरे से चोर की तरह पहुँचा। अन्धकार और निस्तब्धता में कमरे की ओर बढ़ने से हृदय तीव्र गति से धड़कने लगा। धीरे से कमरे के द्वार को जो छुआ, तो तन-बदन में सनसनी दौड़ गई। हृदय बल्लियों उछलने लगा, क्योंकि वह बजाय नित्य की भाँति बन्द होने के खुला हुआ था। मतलब यह कि नाज़ो अन्दर है। अब इसकी पुष्टि हो गई कि वह बदमाश है। और स्पष्ट है कि जब मतलब पूरा हो गया और जिस बात को चाहता था उसका पता लग गया, तो अब लौटना चाहिये। मगर जनाब, जब आदमी की शामत आ जाती है तब अक्ल भी साथ नहीं देती। अतः यह ख़्याल किया कि लाओ देख लें।

कमरे में सिर डाल कर देखा। बिलकुल ही अँधेरा छाया हुआ था। दिल की धड़कन के अतिरिक्त और कुछ न सुनाई दिया। अन्दर धीरे से प्रवेश किया। दाहिनी ओर घूम कर आगे बढ़ा और सोफ़े को धीरे से टटोल कर जो देखा तो रजाई...! क्या अब भी सन्देह की कसर थी! परन्तु नहीं......वापसी असम्भव थी, और पुष्टि ज़रूरी। परिणाम यह हुआ कि मैंने रज़ाई जो थोड़ी सरकाई, तो सोनेवाली ने लम्बी-सी साँस लेकर एक करवट ली, और मेरे मुँह से एक अद्भुत रहस्यमय स्वर में काँपती हुई आवाज़ में निकला—"नाज़ो....नाज़ो!" रज़ाई को अलग करते हुए वह उठ कर बैठी, और साथ ही मैं "नाज़ो!" कहता हुआ जो सोफ़े पर बैठने को हुआ तो....या ख़ुदा!....

"अन्धेर"

सच कहता हूँ कि इससे पहले न तो मैंने कभी बम का गोला छूटते देखा था, और न मैं स्वयं तोप में भर कर दाग़ दिया गया था, और न कभी किसी बारूद के साथ भक से उड़ जाने का संयोग हुआ था। सारांश यह कि यह पहला संयोग था....दुर्भाग्य कहिये....हिमाक़त कहिये या फिर होनी कहिये कि "नाज़ो" कहते हुए मैं शायद बैठने को हुआ था कि जनाब एक तूफ़ान के साथ भूकम्प-सा आया.. ज़ोर का धमाका हुआ....बस, यह प्रतीत हुआ कि सोफ़ा और कमरा सब का सब उड़ गया। या मेरे ख़ुदा! अंधेरा नहीं बल्कि सचमुच का अँधेरा हो गया।

श्रीमतीजी की चीख़ थी कि बम का गोला!...धमाके के साथ-साथ लपट भी थी। यानी यह वास्तविकता थी कि श्रीमतीजी के हाथ में अब बिजली का जेबी लैम्प था, जिसका प्रकाश मेरे मुँह पर था, और मैं धमाके से बौखला कर कह रहा था—"ख़त...ख़त!" मगर तौबा कीजिये!

इसके बाद क्या हुआ? अब यह मेरी प्रार्थना पर गुप्त ही रहने दीजिये। क्योंकि सच मैं बताऊँगा नहीं, और झूठ से फ़ायदा क्या! हाँ, अनुमान लगाने के लिये इतना बताया जा सकता है कि पाँचवें अँधेरे में नाज़ो कम-बख़्त के धोखे में स्वयं श्रीमतीजी से भेंट हुई थी, नाज़ो से नहीं। बल्कि

श्रीमतीजी से ही मैंने नाज़ो समझ कर कहा था कि—"श्रीमतीजी से मत कहना...आह !"

उपसंहार

यहाँ इससे बहस नहीं, कि नाज़ो निकाल दी गई, और न इससे बहस है कि इसके बाद से ऐसी भयानक शक्लवाली नौकरानियाँ देखने में आ रही हैं कि मेहमानों ने बच्चों को साथ लाना छोड़ दिया है, कि कहीं बच्चे डर कर या सहम कर मर न जायँ, और न यहाँ हम इसका ज़िक्र करना चाहते हैं कि बहुत से ऐसे लोग जो पहले चुड़ैलों के क़ायल नहीं थे, हमारे यहाँ नौकरानियों को देख कर वे चुड़ैलों और भूतों के क़ायल हुये, बल्कि यहाँ तो वर्त्तमान परिस्थिति का रोना है। नाज़ो तो कहीं की कहीं पहुँची, लेकिन सितम तो देखिये कि आजकल खुल्लमखुल्ला नकटी और कानी-खुतरी नौकरानियों की भी दिन रात इस तरह खोज रहती है कि सब जानते हैं कि इनके यहाँ इस प्रकार की नौकरानियों की बड़ी आवश्यकता है। लोग हँसते और हमसे कारण पूछते हैं, और जो भूले से कहीं हमने कह दिया कि आख़िर यह क्या सितम है, जो खुल्लम-खुल्ला इस तरह की भयानक सूरतवाली नौकरानियाँ तलाश कर रही हो, तो इसका जवाब एक व्यंग के साथ मिलता है—"और नहीं तो आपके लिये परियाँ मँगवाऊँगी !"

शतरंज का खेल *

बढ़िया क़िस्म का काले रंग का जूता पहिनकर घर से बाहर निकलने का असली आनन्द तो साहब, तब है, जब मुँह में पान भी हो, तम्बाकू के मज़े लेते हुए, जूते पर नज़र डालते हुए, बेत हिलाते चले जा रहे हों। यही सोचकर मैं चलते-चलते घर में दौड़ा। जल्दी में पान भी स्वयं बनाया। अब देखता हूँ, तो छालियाँ नदारद ! मैंने श्रीमतीजी को आवाज़ दी कि छालियाँ लाना। और उन्होंने अन्ना को पुकारा। अन्ना ने मुझे पुकारा कि वह सामने ताक़ में रक्खी हैं। मैं दौड़ा हुआ पहुँचा। एक रकाबी में कटी

और बेकटी यानी पूरी सुपारी रक्खी हुई थीं। सरोता भी रक्खा हुआ था, और सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह कि मेरी शतरंज का एक रुख़ भी छालियों के साथ कटा रक्खा था। उसके तीन टुकड़े थे। एक तो आधा और दो पाव-पाव। स्पष्ट था कि सुपारी के धोखे में कतरा गया है। किन्तु यहाँ किधर से आया? उसके खोने का दुःख और क्रोध तो पहले ही था, अब रुख़ की यह दुर्दशा जो देखी, तो मेरा वही हाल हुआ जो अलीबाबा का क़ासिम की लाश को देखकर हुआ होगा। श्रीमतीजी के सामने जाकर रकाबी ज्यों की त्यों रख दी। श्रीमतीजी ने भौंहें चढ़ाकर देखा और एकदम से उनके सुन्दर मुख पर आश्चर्यमिश्रित मुस्कान आकर रुक गई, और उन्होंने बनावटी आश्चर्य से अन्ना की ओर रकाबी सरकाते हुए देखा। अन्ना ने एकदम से भौंहें चढ़ाकर दाँतों तले ज़बान दाबकर आँखें फाड़ दीं, फिर गम्भीर होकर बोलीं—"तभी तो मैंने कहा कि या अल्लाह, इतनी मज़बूत और कड़ी छालियाँ कहाँ से आ गई! कल रात अँधेरे में कट गया, तब से रकाबी ज्यों की त्यों रक्खी है।"

"अजी, यह यहाँ आया कैसे?" मैंने तेज़ होकर कहा। अन्ना ने चोरों की भाँति श्रीमतीजी की ओर देखकर कहा—"ख़ुदा जाने कहाँ से आया।"

"मैं ख़ूब जानता हूँ।" यह कहकर मैंने ग़ुस्से से श्रीमतीजी की ओर देखा और ज़ोर से कहा—"हँसती हो, मैं ख़ूब जानता हूँ····इन बातों से क्या फ़ायदा?"

इधर वह हँस पड़ीं, और उधर दरवाज़े से अन्ना के लड़के ने प्रवेश किया। मेरा जी ही तो जल गया, और मैंने यह कहकर कि "इसी दुष्ट की शरारत है," लड़के का कान पकड़कर दो-तीन बेत ऐसे जमाये कि मज़ा आ गया। ये बेत मानो श्रीमतीजी के लगे। दौड़कर उन्होंने बेत पकड़ने की कोशिश की और रोकना चाहा, परन्तु मैंने मारना बन्द नहीं किया। मैं मार रहा था और श्रीमतीजी कह रही थीं—"इसका कोई कसूर नहीं।" पर मैं ग़ुस्से में पागल हो रहा था और मारे ही गया। यहाँ तक कि श्रीमतीजी ने बेत पकड़ लिया और कहा—"तुम मुझे मार लो, पर इसे न मारो।" लेकिन

मुझे अत्यधिक क्रोध था। मैंने बेत छुड़ा लिया और वह रोती हुई कमरे में चली गई। मैं गुस्से में काँपता हुआ बाहर चला आया।

मेरा क्रोध उचित था या नहीं, इसका स्वयं पाठक निर्णय करें। शतरंज का शौक़ हुआ, तो हाथी-दाँत के मोहरे मँगवाये। ये मोहरे बहुत नाज़ुक और सुन्दर थे, और ख़ाँ साहब ने दो ही दिन में सब की चोटियाँ तोड़कर सप्ताह के अन्दर ही अन्दर सारे मोहरे बराबर कर दिये थे। ख़ाँ साहब न मेज़ पर खेलते थे और न फ़र्श पर। वे कहते थे कि शतरंज तख़्त पर होती है, जिसमें ज़ोर से मोहरे पर मोहरा मारने का शब्द हो। इसके बाद फिर बनारसी मोहरे मँगाये। छोटे-छोटे सुन्दर, अत्यधिक सादे और हलके मोहरे थे। ऐसे, कि बस देखा ही कीजिए। हफ़्ते भर मुश्किल से इन मोहरों से खेलने पाये होंगे कि सफ़ेद बाज़ी का एक पैदल ख़ाँ साहब के साल भर के बच्चे ने खा लिया। बहुत कुछ उसके गले में ख़ाँ साहब ने अँगुलियाँ घँगोलीं, चित लिटाया, झँझोड़ा, पीठ पर धमोके दिये, पर वह ज़ालिम उसे पार ही कर गया। सफ़ेद बाज़ी चूँकि ख़ाँ साहब लेते थे, अतः पैदल की जगह अपनी अँगूठी रख देते। जब कोई पैदल पिट जाता, तो उसको रख लेते थे। लेकिन इसके बाद ही, बहुत ही शीघ्र, काली बाज़ी का बादशाह खो गया। बहुत खोजा, तलाश किया, लेकिन व्यर्थ! उसकी जगह दो-एक दिन दियासलाई का बक्स रक्खा, फिर एक दिन एक उपयुक्त आकार की इत्र की ख़ाली शीशी मिल गई। वह शाह का काम देती रही। इसके बाद ही काली बाज़ी का पील और सफ़ेद का एक घोड़ा ग़ायब हो गया। ख़ाँ साहब अनुभवी आदमी थे, और पहिले ही कह चुके थे कि—हो न हो, मोहरे आपके घर में से चुरवाये जाते हैं; पर मैं यही कह देता कि यह नामुमकिन है। उन्हें भला इससे क्या मतलब! वे बहुतेरा मुझे विश्वास दिलाते, सिर मारते कि सिवाय घर के और कहीं नहीं हैं। मगर मुझे यक़ीन ही न आता था। ख़ाँ साहब कहते थे कि औरतों को शतरंज से बैर होता है। सच तो यह है कि श्रीमतीजी मेरी शतरंजबाज़ी के ख़िलाफ़ तो थीं, और बहुत ख़िलाफ़ थीं; पर मुझे नहीं मालूम था कि वह इस प्रकार बाधक हो सकती हैं। अस्तु, इन मोहरों के बाद ही रामपुर से ख़ाँ साहब ने मुंडे मोहरे अमरूद की लकड़ी के मँगवा

दिये। रामपुर के-से अच्छे, बढ़िया और सुन्दर, साथ ही साथ मज़बूत मोहरे होना असम्भव है। अभी चार दिन भी आये नहीं हुए थे कि यह घटना हुई अर्थात् अन्ना ने सुपारी के साथ इस नई शतरंज का रुख़ कतर डाला।

× × ×

मैंने इस घटना का ज़िक्र सबसे पहले ख़ाँ साहब से किया। उन्होंने बायीं ओर की दाढ़ी का छज्जा, जो ज़रा नीचे आ गया था, ऊपर को चढ़ाते हुए आँखें झुकाकर अपनी ऐनक के ऊपर से देखते हुए मुस्कराकर कहा—"मैं कहता न था मिर्ज़ा साहब, कि हो न हो ये आपके घर ही में हैं—अजी साहब, यहाँ अल्लाह बख़्शे! पहली औरत से दिन-रात जूती-पैज़ार होती रहती थी। फिर उसके बाद अब इनसे भी दो-तीन बार ज़ोर के साथ चायँ-चायँ हो चुकी है और होती रहती है। मगर मैं शतरंज के मामले में ज़रा कड़ा हूँ। घरवाली को सोने का निवाला (कौर) खिलाये, पर वह जो यह कहे कि शतरंज न खेलो, तो बस, खा ही जाय····तब जाके कहीं शतरंज खेलने को मिलती है!···नहीं तो यह समझ लीजिए कि आये दिन के झगड़े रहेंगे और शतरंज खेलनी मुश्किल हो जायगी। वैसे आपकी तबीयत ··मैं तो कुछ कहता नहीं।"

मैंने कुछ सोचा। ख़ाँ साहब सचमुच ठीक कहते हैं···पर मुझे अब क्या करना चाहिए।

मैं सोच ही रहा था कि ख़ाँ साहब बोले—"अभी कोई सत्तरह वर्ष की बात है कि मेरी पहली औरत लड़ने पर उतारू हो गई। वह पान नहीं भेजती थी। ज़रा ग़ौर तो कीजिये कि हम तो बाहर शतरंज खेल रहे हैं, मीर साहब बैठे हैं और पान नदारद! ख़ुदा बख़्शे, किसी मामले में नहीं दबती थी! हाँ, तो····कोई सत्तरह बरस की बात है, वह लड़ने पर उतारू हो गई। ख़ूब छनी, ख़ूब छनी, बड़ी मुश्किल से राज़ी किया।"

"वह कैसे!" मैंने पूछा।

ख़ाँ साहब ने सिर हिलाकर इस तरह जवाब दिया, जैसे शायद ड्यूक आफ़ विलिंगटन ने नेपोलियन को पराजित करके प्रधान मंत्री से कहा होगा—"आप बताइये···पहले आप बताइये, सुनिये····मैंने साफ़-साफ़ कह दिया कि

बेग़म साहिबा, यह लो अपने मेहर के रुपये और घर की राह लो। बन्दा तो शतरंज खेलेगा, और ख़ूब खेलेगा....पान बनाओ तो बनाओ, नहीं तो गाड़ी बढ़ाओ और चलती-फिरती नज़र आओ ! आख़िर हार कर, झक मार कर पान बनाने पड़े, और वही मसल रही—'पाँड़े जी पछतायेंगे वही चने की खायेंगे !' तो बात यह है....मिर्ज़ा साहब, बात यह है कि औरत ज़ात ज़रा शतरंज के ख़िलाफ़ होती है, और ज़रा-सी कमज़ोरी दिखाई और सिर पर !" और यह कहते हुए खाँ साहब ने अपने बायें हाथ की तर्जनी पर दाहिने हाथ की दो अँगुलियों को सवार करके दिखलाया। मैं यह लेक्चर सुनकर तरकीब सोच रहा था कि क्या करूँ। यदि श्रीमतीजी से कभी यह कहूँ कि अपना रास्ता देखो, तो श्रीमतीजी सीधी तूफ़ान मेल से घर पहुँचेंगी, एक क्षण को न रुकेंगी। घर पर जी घबरायेगा, तार अलग देने पड़ेंगे और हफ़्ते-भर की दौड़-धूप के बाद ही लाना पड़ेगा।

ख़ाँ साहब ने कहा—"चली जाने दीजिए, झक मारकर फिर आख़िर को आप ही आयेंगी। महीना, दो महीना, तीन महीना, आख़िर कितने दिन न आयेंगी !"

मैंने मन में कहा कि यह ठीक नहीं, और ख़ाँ साहब से कहा—"पर मुझे तकलीफ़ हो जायगी....।"

"आप भी अजीब आदमी हैं !' ख़ाँ साहब ने बिगड़ते हुए कहा—"आप शतरंज नहीं खेल सकते....लिख लीजिए कि आपके 'घर में' आपका शतरंज खेलना नामुमकिन कर देंगी....आप नहीं खेल सकते।'

"यह आख़िर क्यों !"

ख़ाँ साहब बोले—"लिख लीजिये....बन्दे ख़ाँ की बात याद रखियेगा, लिख लीजिये !"

"आख़िर क्यों लिख लूँ ! कोई वजह !"

"वजह यह।" ख़ाँ साहब ने अपने दाहिने हाथ की मुट्ठी ज़ोर से बायें हाथ की हथेली पर मारकर कहा—"वजह यह कि माफ़ कीजियेगा, आप ज़न-मुरीद हैं—जोरू के ग़ुलाम ! उधर वह जायँगी, और इधर आप...(उँगली घुमाकर नक़ल बनाते हुए ख़ाँ साहब ने कहा) हाय जोरू ! हाय

जोरू !....चिल्लायँगे....ऐसे कहीं शतरंज खेली जाती है, लाहौल-वला-कुवत इल्लाह-ब इल्लाह।"

× × ×

मैंने निश्चय कर लिया कि श्रीमतीजी से इस बारे में बड़ी कड़ी लड़ाई होगी। मैं नहीं दबूँगा, यह मेरा शौक़ है, शौक़ ! उन्हें मानना पड़ेगा।

(२)

तीन-चार दिन तक श्रीमतीजी से घोर युद्ध रहा—यानी मौन-युद्ध ! उधर वह चुप, इधर मैं चुप। श्रीमती जी की सहायक अन्ना और मेरे सहायक ख़ाँ साहब ! पाँचवें दिन यह शतरंज अखरने लगी। मेरी सेना दुर्बलता दिखा रही थी। जी था कि उलटा आता था। मौन युद्ध से ख़ुदा बचाये ! ऐसा लगता था, मानो गैस की लड़ाई हो रही है। शत्रु का गैस दम घोंट देता है। ख़ाँ साहब तरह-तरह के हमलों की योजनायें बनाते थे, लेकिन जनाब इस गैस की लड़ाई में कोई उपाय न बन पड़ता था। ख़ाँ साहब युद्ध के विशेषज्ञ थे, पर ज़हरीली गैस का जवाब तोप और बन्दूकें नहीं दे सकतीं, यह उन्हें ज्ञात न था। कारण कि वे पुराने समय की लड़ाइयाँ लड़े हुये थे, बेचारे क्या जानें कि मौन गैस क्या बला होती है। मेरी निर्बलता पर दाँत पीसते थे, कहते थे—"न हुआ मैं........दिखा देता।"

× × ×

ख़ाँ साहब एक तो स्वयं जंगी आदमी ठहरे, और फिर जनरल भी अच्छे। मगर जनाब, अगर सिपाही ही हिम्मत हार जाय, तो जनरल क्या करे ! छः दिन बीत गये। और अब मैं हारते हुए लड़ रहा था। बहुत कोशिश की, बड़ी हिम्मत की, किन्तु हार ही गया। सन्धि की शर्तें भी बड़ी कड़ी थीं। जिस प्रकार वर्साई का समझौता तुर्कों के लिए मान्य नहीं था, इसी प्रकार मेरे लिए भी सन्धि की शर्तें आवश्यकता से अधिक कड़ी थीं। लेकिन अन्त में हारकर, विवश हो मुझे सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर करने ही पड़े। और सन्धि-पत्र की कड़ी शर्तें भी देख लीजिये—

(१) ख़ाँ साहब से मित्रता के सारे सम्बन्ध त्याग दूँगा। वे घर पर

आयेंगे, तो कहलवा दूँगा कि नहीं हूँ। वैसे भाजी-बयना आदि उनके यहाँ जायेगा और आयेगा।

(२) शतरंज खेलना बिलकुल बन्द! अब कभी शतरंज नहीं खेलूँगा, विशेषकर रात को तो खेलूँगा ही नहीं।

(३) शतरंज के अतिरिक्त ताश भी नहीं खेलूँगा, सिवाय इतवार के—रात को वह भी नहीं!

(४) रात को देर करके आना शतरंज खेलते रह जाने के बराबर समझा जायगा। बिना किसी प्रमाण के यह विश्वास कर लिया जायगा कि शतरंज खेली गई। कोई सफ़ाई नहीं मानी जायगी।

पाँचवीं और छठी शर्त मैं स्वयं नहीं बताना चाहता। सातवीं शर्त यह थी कि इस समझौते पर क़ायम न रहे, तो तुम अपने घर ख़ुश, हम अपने घर ख़ुश!

ख़ाँ साहब से मैंने अपनी पराजय और सुलह की शर्तों का ज़िक्र साफ़-साफ़ तो नहीं किया, किन्तु इतना अवश्य स्वीकार किया कि मोहरे बराबर अन्ना के लड़के से चुरवाये जाते रहे, फिर सन्धि की चर्चा की और इसके बाद कुछ दिनों के लिए शतरंज खेलना बन्द कर देना ही उचित बताया। ख़ाँ साहब तजुर्बेकार आदमी थे। दाँत निकालकर उन्होंने रान पर हाथ मारकर पहले तो दुनिया भर की लड़ाका स्त्रियों को गालियाँ दीं और फिर कहा—"मियाँ लौंडे हो, मुझसे बातें बनाने आये हो! बीवी की जूतियाँ खा रहे हो·······शतरंज खेलेंगे·······यह शतरंज है! हुँह·······मैं न कहता था·······मेरी बला से, तुम जानो तुम्हारा काम·······पर लिख लो, एक दिन सिर पकड़कर रोना पड़ेगा·······घरवाली को इतना सिर पर नहीं चढ़ाते·······तुम जानो तुम्हारा काम·······जब कभी मुलाक़ात हुई सलाम-बन्दगी कर ली, बस लिख लो·······"

ख़ाँ साहब की बातों से कुछ फुरहरी-सी आई। घर में आया तो श्रीमती-जी को फूल की तरह खिला हुआ पाया। लाहौल विला कूवत!

शतरंज जाय भाड़ में! इतनी अच्छी बीवी से शतरंज के पीछे लड़ना मूर्खता है, कौन लड़े, चुप बैठो!

(३)

किसी ने सच कहा है—'चोर चोरी से जाय, तो क्या हेरा फेरी भी छोड़ दे।' लगे हाथों इधर-उधर कभी-कभी एक दो बाज़ियाँ जम ही जातीं। कभी ख़ाँ साहब के यहाँ पहुँच गया, तो कभी मीर साहब के यहाँ। फिर बात छिपी नहीं रहती। श्रीमतीजी को भी मालूम हो गया कि कभी-कभी में कोई हर्ज़ नहीं है। स्वयं श्रीमतीजी ही ने कहा—"मेरा यह मतलब थोड़े ही है कि कसम खाने को भी न खेलो! शौक़ से खेलो, मगर ऐसे खेलो कि कभी-कभी एक-दो बाज़ी वक़्त पर खेल लिये। यह नहीं कि जम गये, तो उठते ही नहीं।"

श्रीमतीजी को नहीं मालूम कि कभी-कभी से और शतरंज से बाप मारे का बैर है। कभी-कभी वाला भला खेलनेवाले के आगे क्या जमे! जो लोग मुझसे आठ मातें खाते थे उलटी मुझे आठ-आठ पिलाने लगे!

दो-एक दिन फिर ऐसा हुआ कि कुछ देर से आना पड़ा। श्रीमतीजी ने कभी नाक-भौं सिकोड़ी, कभी ज़रा-ज़रा खिसियाईं; किन्तु कभी झगड़े की नौबत न आई। बड़बड़ाकर रह गईं—"फिर वही शतरंजबाजी—ख़ाँ साहब के साथ—फिर खेलने लगे!" आदि-आदि। ग़रज इस प्रकार के वाक्यों तक कुशल रही।

× × ×

एक दिन की बात है कि श्रीमतीजी ने बाज़ार से बम्बई के काम की अच्छी-अच्छी साड़ियाँ मँगाई थीं। एक साड़ी बेहद पसन्द थी। पर जेब में इतने दाम नहीं। बार-बार बेचैन होकर वही पसन्द करतीं, पर मेरे पास भला इतने दाम कहाँ!

"कैसी अच्छी है!...रंग तो देखो...बेल...क्या काम हो रहा है!.... और फिर कपड़ा....!"

वह जो मैं दिला रहा था, उसको तरह-तरह से घुमा-फिरा कर इस तरह महँगा सिद्ध किया कि सस्ता रोये बार-बार महँगा रोये एक बार! ऐसे मौक़े पर ग़रीब पति के कलेजे पर एक घूँसा लगता, दिल पर साँप-सा लोट जाता है! मन ही मन में कहता है कि—'ज़ालिम, तुझे क्या ख़बर, मेरा बस चले

तो सारा संसार तेरे चरणों में अर्पण कर दूँ, पर क्या करूँ !' पत्नी भी विवशता को देखती है, मजबूरी को स्वीकार करती है, एक साँस लेकर चुप-सी हो जाती है। पुरुष के लिए शायद इससे अधिक कष्ट-दायक कोई बात नहीं है। यह भी सम्भव है कि एक बार वह इस कष्ट को न सह सके और कहीं-न-कहीं से रुपया पैदा करके अपनी प्रिय पत्नी का कहना कर दे। पर वहाँ तो यह हाल है कि आज साड़ी की फ़रमायश है, तो कल जम्पर की, और आज यह चीज़ है तो कल वह चीज़ ! कहाँ तक करे ! पत्नी बेचारी भी कुछ मजबूर नहीं करती, पर उसकी आँखें विवश हैं। ज़बान क़ाबू में है, पर मन क़ाबू में नहीं है। उम्र का तक़ाज़ा है, क्या इससे भी गई-बीती !

ग़रज़ कि ऐसा ही मौक़ा आया। पसन्द की हुई साड़ी तो ली नहीं जा सकती थी, और न लेने की शक्ति थी। लाचार हो, एक दूसरी पसन्द की गई थी, और दाम लेकर अब मैं सोचता जा रहा था कि कुछ नहीं, तो दस-पाँच रुपये ही इसमें कम कर दे, और यदि आधे दामों में दे, तो फिर बढ़िया वाली ही लेता आऊँ।

चलते समय श्रीमती जी ने कहा—'देखिये, इधर से जाइयेगा, उधर से होकर।' अँगुली के इशारे से कहा। इससे यह मतलब था कि दूसरी सड़क से यानी ख़ाँ साहब के घर से बचते हुए, जिसमें कि शतरंज न खेलने लग जाऊँ। मेरा इरादा शतरंज का नहीं था। मैंने हँसकर कहा—"अब ऐसा पागल भी नहीं हूँ कि काम से जा रहा हूँ और काम छोड़कर शतरंज में बैठ जाऊँ।"

× × ×

ख़ाँ साहब की बैठक के सामने से गुज़रा, तो देखता क्या हूँ कि फड़ जमा हुआ है। जी न माना। चाल कुछ मन्द थी ही। आवाज़ सुनकर ख़ाँ साहब नंगे पैर चौखट पर खड़े होकर चिल्लाये—"अजी मिर्ज़ा साहब !"

ऊँघते को ठेलते का बहाना। साइकिल का ब्रेक लगाया और उतर पड़ा।

"दूर ही दूर से चले जाओगे, ऐसा भी क्या है।" यह कह कर ख़ाँ साहब ने हाथ पकड़ कर मूढ़े पर बैठाया। एक नये खिलाड़ी आये हुए थे।

मीर साहब को दो मातें दे चुके थे। अब एक साहब और डटे हुए थे। बड़े ज़ोरों की बाज़ी हो रही थी। दोनों बाज़ियाँ बराबर की थीं। पिछली बाज़ियों का खाँ साहब ने विवरण सुनाया। मीर साहब ने बताया कि किस तरह पिछली बाज़ी में खाँ साहब ने एक ग़लत चाल बतलाकर उनका घोड़ा पिटवा दिया, और फिर किस तरह धोखे में स्वयं उन्होंने अपना रुख़ पैदल के मुँह में रख दिया। नहीं तो वह बाज़ी मीर साहब अवश्य जीत जाते, बल्कि जीत गये थे, क्योंकि दुश्मन का क़िला तोड़ ही दिया था, और बादशाह ज़िच बैठा था। बस एक घोड़े की शह की देर थी कि ग़लती से पैदल के मुँह में रुख़ रख दिया, वर्ना घोड़ा कम होने पर भी मीर साहब ने मात कर दी होती। नये खिलाड़ी ने इसका खण्डन किया। वह वास्तव में काफ़ी देर बातें करते; लेकिन मजबूर थे और खेल में व्यस्त थे। दूसरी बाज़ी की तफ़सील भी मीर साहब सुनाना चाहते थे और बतलाना चाहते थे कि किन असाधारण कारणों से संयोगवश वह बाज़ी भी बिगड़ गई। परन्तु अब वर्त्तमान खेल अधिक दिलचस्प हुआ जा रहा था। बाज़ी बहुत शीघ्र ख़तम हो गई, और नये खिलाड़ी फिर जीते। मैं ख़ाँ साहब से यह कहते हुए उठा कि "अभी आया, कुछ कपड़ा ले आऊँ।" ख़ाँ साहब ने बड़े पक्के वादे लिये, तब कहीं जाकर छोड़ा। कपड़े वाले की दूकान पर पहुँचा और साड़ी ख़रीदी, दाम नक्द ही दे दिये। लाला साहब बड़े भले आदमी थे, मेरे मित्र थे और अपने कथन के अनुसार मुझे सब कपड़े दाम के दाम पर देते थे।

× × ×

दूकान से साड़ी लेकर वापस आया और खाँ साहब के यहाँ शतरंज देखने लगा। बड़े काँटे की शतरंज हो रही थी, क्योंकि मीर साहब ने उन नये खिलाड़ी को एक मात दे दी थी और अब दूसरी बाज़ी भी चढ़ी हुई थी।

मेरे बताने पर नये खिलाड़ी साहब ने भन्ना कर मेरी ओर देखा और कहा—"बोलने की नहीं होती, साहब!"

ख़ाँ साहब तेज़ होकर बोले—"मीर साहब क्या अन्धे हैं! क्या उन्हें नहीं दिखाई देता कि मोहरा पिट रहा है! क्या वह ऐसे अनाड़ी हैं!"

"आप और भी बताए देते हैं।" नये खिलाड़ी ने कहा। उधर मीर साहब सचमुच अन्धे हो रहे थे, और अगर ख़ाँ साहब न बोलते, तो घोड़ा मुफ़्त में पिट गया होता। वह घोड़े को पिटता छोड़कर रुख़ चल रहे थे। अब रुख़ की चाल वापस करके उन्होंने घोड़ा पकड़ा।

"चाल हो गई।" नये खिलाड़ी ने बिगड़कर कहा—"चाल वापस करने की नहीं होती!"

मीर साहब जलकर बोले—"जनाब, यह शतरंज हो रही है, चाल वापस न कीजिएगा; पर मैंने चाल चली भी तो नहीं, मैंने तो रुख़ को सिर्फ़ छुआ ही है, और आप कहते हैं कि चाल हो गई! यह क्या····रोते हो····"

"जी नहीं!" नये खिलाड़ी ने कहा—"चाल हो गई। आपको रुख़ वहीं रखना पड़ेगा। मैं चाल वापस नहीं दूँगा।" यह कह कर रुख़ उठा कर वहीं रख दिया, जहाँ मीर साहब चल रहे थे। मीर साहब ने फिर उसे उठाकर उसी जगह रख लिया। नये खिलाड़ी ने फिर रख लिया, और मीर साहब ने फिर वापस रख लिया। ज़रा तेज़ होकर और झुँझलाकर नये खिलाड़ी ने कहा—"जो नहीं, चलना पड़ेगा!" और यह कह कर फिर अपनी चाल भी चल दी, यानी रुख़ से मीर साहब का घोड़ा मार कर मुट्ठी में मज़बूती से पकड़ लिया।

मीर साहब ने और ख़ाँ साहब ने हुल्लड़-सा मचाया। मीर साहब का जो ताव आया, तो घोड़े को रुख़ से मार दिया! नये खिलाड़ी ने रुख़ को रुख़ से मारा।

मीर साहब ने ग़ुस्से में दूसरे रुख़ को मारा, तो नये खिलाड़ी ने अपने पील से रुख़ को मारा। अब मीर साहब ने क्रोध में अपने वज़ीर से प्रतिद्वन्द्वी के पील को जान-बूझकर मार कर अपना वज़ीर पिटा दिया और साथ ही बिसात पर मोहरे पटक कर कहने लगे—"शतरंज खेलते हो कि रोते हो! यह लो, मैं ऐसे अनाड़ियों के साथ शतरंज नहीं खेलता।"

अब मैं बैठा। पर न मीर साहब की ज़बान क़ाबू में थी और न ख़ाँ साहब की। परिणाम यह हुआ कि मीर साहब मेरे मोहरे उठा-उठाकर चलने लगे! दो मुल्लाओं में मुर्ग़ी हराम वाला मज़मून हुआ इस बाज़ी का! शेख़

जी (नये खिलाड़ी) वैसे भी शतरंज अच्छी खेलते थे। मेरी बाज़ी बिगड़ने लगी, तो मीर साहब ने फिर एक चाल लौटाई। सेख़ जी ने हाथ पकड़ लिया। यद्यपि मीर साहब चाल चल चुके थे, पर कहने लगे—"अभी तो मोहरा मेरे हाथ में था।" ख़ूब झाँय-झाँय हुई। शेख़ जी मोहरे फेंक कर बिगड़ खड़े हुए। परिणाम यह निकला कि शेख़ जी भाग गये। मैं भी उठने को हुआ, तो मीर साहब ने कहा—"आओ, एक बाज़ी हो जाय।"

मैंने घड़ी देखी। अभी तो शाम ही थी। जल्दी-जल्दी मोहरे बिछाये कि लाओ एक बाज़ी खेल लूँ।

मीर साहब नित्य के खेलनेवाले। झटपट उन्होंने मात कर दिया! मैंने जल्दी से दूसरी बिछाई। समय की बात, मीर साहब ने वह भी मात कर दी! तीसरी बिछाई, यह देर तक लड़ी। मेरी बाज़ी चढ़ी हुई थी और मैं अवश्य जीत जाता; पर मेरा वज़ीर धोखे में पिट गया। चाल लौटाने की ठहरी नहीं थी। यह भी मीर साहब जीते। ख़ुश होकर कहने लगे—अब तुमसे क्या खेलें। हमारी शतरंज ख़राब होती है। कोई बराबर वाला हो, तो एक बात भी है।"

मुझे ग़ुस्सा आ रहा था। मैंने कहा—"मीर साहब, वह दिन भूल गये, जब चार-चार मातें देता था और एक भी नहीं गिनता था। मेरी शतरंज छूटी हुई है।"

मीर साहब ने और भी मेरा जी जलाया। कहने लगे—"हार जाते हैं, तो सब यही कहते हैं!"

ग़रज़ कि फिर होने लगी। अबकी मैं जीता। मैं कोशिश कर रहा था कि तीनों बाज़ियाँ उतार दूँ, और दो मैंने उतार भी दीं तथा तीसरी ज़ोरों से जमी हुई थी कि ख़ाँ साहब ने सिर उठाकर बाहर झाँका।

'कौन है?' उन्होंने कहा और सारस की-सी गरदन ऊँची करके देखकर कहा—"लीजिए!" फिर व्यंगात्मक स्वर में बोले—"वह एलची आ गया।"

यह मेरा नौकर अहमद था। वह जा रहा था। मैंने आवाज़ देकर बुलाया और पूछा—"क्यों, कैसे आया?"

"कुछ नहीं साहब, देखने भेजा था।"

"और कुछ कहा था ?"

"जी नहीं, बस यही कहा था कि देखकर चले आना जल्दी से।"

"तो देखो।" मैंने कहा—"क्या कहेगा जाकर !........यह कहना कि ख़ाँ साहब के यहाँ नहीं थे। यूसुफ़ साहब के यहाँ थे........मगर नहीं........ तुमसे तो यही कहा है कि ख़ाँ साहब के यहाँ देख लेना........तो बस, यही कह देना कि नहीं थे....समझे !"

"लाहौल-वला कूवत।' ख़ाँ साहब ने बिगड़ कर कहा—"अरे मियाँ, तुम आदमी हो कि पायजामा ! बीबी न हुई, बड़ी लाट साहब हो गई ! नहीं जी !" ख़ाँ साहब ने ग़ुस्से से अहमद से कहा—"जाओ, कह देना कि ख़ाँ साहब के यहाँ बैठे शतरंज खेल रहे हैं, और ऐसे ही खेलेंगे।"

"नहीं, नहीं देखो...."

"जाओ यहाँ से।" मेरी बात काट कर ख़ाँ साहब ने नौकर से कहा—"कह देना, शतरंज खेल रहे हैं।"

"मत कहना।" मैंने कहा—"अभी आता हूँ।"

अहमद चला गया और ख़ाँ साहब ने मुझे आड़े हाथों लिया। उन्होंने मेरे सामने बहुत से प्रस्ताव रक्खे, जैसे कि मैं डूब मरूँ........दूसरा विवाह कर लूँ........घर छोड़ दूँ........यह सब केवल इसलिए कि ऐसे जीवन से जिनमें पत्नी की सख़्ती के कारण शतरंज खेलने को न मिले, मौत लाख दर्जे अच्छी है।

ग़रज़ इसी विवाद और हुज्जत में मेरा रुख़ पिट गया और फिर मैंने मीर साहब का वज़ीर मार लिया।

मीर साहब बिगड़ गये और कहने लगे—"इधर लाओ वज़ीर....हाथ से मोहरा छीनते हो, अभी तो मेरे हाथ ही में था।"

"इसकी नहीं होती।" मैंने कहा—वज़ीर वापस नहीं दूँगा। अभी-अभी तुमने मुझसे घोड़े वाला पैदल ज़बरदस्ती चलवा लिया था। और अब अपनी दफ़ा ऐसा कहते हो। मैं नहीं दूँगा।"

ख़ाँ साहब भी मीर साहब का पक्ष लेने लगे। लेकिन यह अन्तिम बाज़ी थी, जिससे मैं बराबर हुआ जा रहा था। अतः मैंने कहा—"मैं हरगिज़ चाल वापस न दूँगा।"

ख़ूब-ख़ूब हुज्जत हुई। पिछली पुरानी बाज़ियों का उल्लेख किया गया। मुझे उनसे शिकायत थी कि पुरानी मातें जो मैंने उनको दी थीं, वह भूल गये और यही शिकायत उनको मुझसे थी। पुरानी मातें खाना न मैंने स्वीकार किया और न उन्होंने। अन्त में जब यह निश्चय हो गया कि मैं वज़ीर वापस नहीं दूँगा, तो मीर साहब ने मोहरे फेंककर क़सम खाई कि अब मुझसे कभी न खेलेंगे—"धिक्कार है उसके ऊपर जो तुमसे कभी खेले। बेई-मान नहीं तो कहीं के।" वे कह रहे थे "लानत है उस कमबख़्त पर जो अब तुमसे खेले।"

मैंने भी इसी प्रकार के शब्द दोहराये और बड़े खिन्न होकर हम दोनों उठने लगे, तो ख़ाँ साहब ने मेरा हाथ पकड़ लिया और कहा—"भई, यह तो कुछ भी न हुआ। बराबर सराबर हो गई। एक को हारना चाहिये।"

इस पर मीर साहब बोले कि मैं जीता, और मैं बोला कि ये ग़लत कहते हैं, बराबर है। ख़ाँ साहब ने कहा—"अच्छा, एक बाज़ी तो और हो।" पर मीर साहब कहने लगे—"तोबा है! अरे म्याँ ख़ाँ साहब, तुम मुसलमान होकर मेरा यक़ीन नहीं करते। मैं क़सम खा चुका हूँ, लानत हो उस पर जो अब इनसे खेले।"

मैंने मीर साहब से व्यंग्य किया—"मीर साहब किबला! यह शतरंज है, शतरंज, दिल्लगी नहीं है! अभी सीखिये कुछ दिन।"

"अरे जाओ!" मीर साहब बोले—"बहुत खिलाड़ी देखे हैं, न जाने तुम-जैसे कितनों को सिखा कर छोड़ दिया। अभी कुछ दिन और खेलो!"

इसी प्रकार की बातें कहते हुए मीर साहब उठकर चले गये। ख़ाँ साहब मेरे लिए पान लेने गये। मैं अपनी साईकिल के पास पहुँचा और बत्ती जलाई। इतने में ख़ाँ साहब पान लेकर आ गये, और मैं चल दिया।

मुश्किल से सामने के मोड़ पर ही पहुँचा था कि सामने से एक आदमी

ने हाथ से मुझे रोका। मैं रुक गया, तो उसने पीछे इशारा किया। मुड़कर देखता हूँ तो मीर साहब चिल्लाते हुए भागते आ रहे थे।

"अजी मिर्ज़ा साहब! ख़ुदा की क़सम खाकर कहता हूँ।" मीर साहब ने हाँफते हुए कहना शुरू किया—"वल्लाह, मैंने हिसाब लगाया है, ख़ुदा की क़सम खाकर कहता हूँ कि मेरी दो बाज़ियाँ उस आख़िरी बाज़ी को छोड़ कर चढ़ी हुई हैं।"

मैंने कहा—"बिलकुल ग़लत! बल्कि मेरी ही आप पर होंगी। आप वह उस दिन, इतवार वाली बाज़ी भी लगाते होंगे—वह जिसमें आपका रुख़ कम था।"

"क्यों नहीं, ज़रूर लगाऊँगा।" मीर साहब बोले।

"यह कैसे!" मैंने कहा—"ख़ूब! ख़ाँ साहब की बाज़ी अगर मैं देखने लगा और एक-आध चाल बता दी, तो वह मात मुझे कैसे हुई!"

"अच्छा, वह भी जाने दो। ख़ैर, तो फिर एक तो रही।"

"वह कौन-सी!"

"वह जो शौकत साहब के यहाँ हुई थी।"

"कौन-सी, कौन-सी! मुझे याद नहीं।"

"हाँ-हाँ, भला ऐसी बातें तुम्हें क्यों याद रहने लगीं, ऐसे बच्चा हो न!"

"मुझे तो याद नहीं, मीर साहब!" मैंने कहा—"कभी आपकी फ़ाज़िल मात छोड़कर उठा भी हूँ! या तो उतार कर उठा, नहीं तो आप पर चढ़ा कर।"

"अरे मियाँ, एक दिन सब को मरना है। क्यों अपनी आक़बत एक बाज़ी शतरंज के पीछे ख़राब करते हो! ज़रा ख़ुदा और रसूल से नहीं डरते! शर्म नहीं आती! मात पर मात खाते हो और भूल जाते हो!"

"मीर साहब!" मैंने कहा—"आप तो सात जन्म भी लें, तब भी मुझे मात देने का ख़्वाब नहीं देख सकते। वह और बात है कि भूल-चूक में एक-आध बाज़ी पड़ी मिल जाय!"

"अरे तुम बेचारे क्या खाकर खेलोगे! घरवाली तो क़ाबू में आती

नहीं, मियाँ शतरंज खेलने चले हैं। अभी दस बरस रख् उठा के खिलाऊँ, क्या बताऊँ क़सम खा चुका हूँ, नहीं तो अभी बता देता।"

"मार साहब, यह शतरंज है।" मैंने व्यंग्य किया—"कभी ख्वाब में भी जीते हो!"

"क्या मेरी क़सम तुड़ वाओगे!"

"अभी शतरज सीखिये।" यह कह कह मैंने पैर मार कर पैडिल चला दिया और साईकिल को आगे बढ़ाया।

"तो फिर एक बाज़ी मेरी रही।" मीर साहब हैंडिल पकड़ कर बोले।

"ग़लत बात!" मैंने कहा; लेकिन मीर साहब ने साईकिल रोक कर खड़ी कर दी और बोले—"माननी पड़ेगी।"

मैंने कहा—"नहीं मानता।"

मीर साहब फिर बोले—"तुम्हें माननी पड़ेगी, नहीं तो फिर आ जाओ····अभी····क़सम तो टूटेगी ही····ख़ैर, लेकिन बाज़ी····"

मैंने कुछ सोचा। यह सही था कि यदि मैं खेलूँ, तो मीर साहब भला क्या जीत सकते थे! अतएव मैंने मीर साहब से तय कर लिया कि बस एक बाज़ी पर मामला तय है। मैं हारूँ तो, या वे हारें तो, सदा हारे कहलायेंगे। सौदा अच्छा था, अतः मैंने साईकिल घुमा ली।

× × ×

ख़ाँ साहब की शिष्टता तो देखिए। कुण्डी खटखटाते ही खाना खाते से उठकर आये और "भई वाह-वाह!" कहकर फिर अन्दर घुस गये। और फिर जो आये, तो लालटेन और खाने की थाली हाथ में लिए हुए। बहुत कुछ इनकार किया, मगर बेकार! ख़ाँ साहब ने ज़बरदस्ती खिलाया और धन्य है ख़ाँ साहब की पत्नी! बेचारी ने तुरन्त अण्डे तलकर तैयार किये। खाने-पीने के बाद हम दोनों ने ख़ाँ साहब के सामने अपना मामला पेश किया। सारांश यह कि शतरंज जम गई। मुझे घर जाने की बड़ी फ़िक्र थी और सोच रहा था कि श्रीमती जी क्या कहेंगी। पर एक बाज़ी का खेलना ही क्या!

शुरू ही से मेरी बाज़ी चढ़ गई और ताबड़-तोड़ दो-चार तेज़ चालें

निकाल के अपने रुख़ से मीर साहब का वज़ीर अरदब में ले लिया। मीर साहब ने यह कहकर मोहरे फेंक दिये कि "इत्तफ़ाक़ की बात है, नज़र चूक गई।" मैं उठकर चलने लगा कि देर हो रही है। ख़ाँ साहब ने हाथ पकड़ा कि एक बाज़ी और सही। मीर साहब चुप थे। मैंने कहा—"अब हम दोनों बराबर हो गये, अब कोई ज़रूरत नहीं।"

ख़ाँ साहब हँसकर बोले—"वाह, यह तय हो जाना चाहिये कि कौन ज़बरदस्त खिलाड़ी है! बराबर रहना ठीक नहीं है।"

उधर मीर साहब ने अब उस इतवार वाली बाज़ी को भी गिनना शुरू किया, जिसको वह छोड़ चुके थे और कहने लगे कि एक अब भी मुझसे जीते रहे। इधर श्रीमती जी का डर लगा हुआ, उधर मीर साहब का हठ और ख़ाँ साहब की कोशिश; परिणाम यह निकला कि बस एक बाज़ी और खेलने का निश्चय हुआ। बाज़ी जमाई गई। क़िस्मत की ख़ूबी देखिये कि चौमोहरी उठी। उसके बाद की बाज़ी मीर साहब ने एक चाल पर क़ायम कर दी। शह-शह-शह-शह! बस, शह दिये जायँ तो उनकी बचत है। यह भी बराबर उठी। फिर दूसरी बाज़ी बिछी। इसको मैं बड़ी सावधानी के साथ खेला और मोहरे बढ़ जाने पर मैंने सोचा कि पैदली मात करूँगा। पर दुर्भाग्य से मीर साहब का बादशाह ज़िच हो गया और यह भी क़ायम उठी। मैं घबरा गया। बड़ी देर हो गई थी जाड़ों के दिन थे। घड़ी पर दृष्टि की, साढ़े बारह बजे थे।

(४)

मैं घबरा कर उठा। बड़ी देर हो गई। अब क्या हो! श्रीमती जी क्या कहेंगी! ख़ूब लड़ेंगी, बड़ी गड़बड़ होगी। शायद सुबह तक लड़ती रहेंगी। किया क्या जाय! कुछ देर खड़ा सोचता रहा। एक उपाय समझ में आ गया। सीधा बजाज़ की दूकान पर पहुँचा। दूकान बन्द थी। घर मालूम था। रात को लाला जी को जा खटखटाया। लाला घबराये हुए बाहर निकले। मैंने मतलब बताया कि वह बढ़ियावाली साड़ी दे दो। अभी-अभी चाहिये। लाला साहब घबराये; पूछा—"ख़ैरियत तो है?"

पर मैंने कहा—"अभी दो।"

लाला जी ने बहाने किये, पर मैं भला कब मानने वाला था! लाला

जी ने अपने दो आदमी साथ लिये और आकर दूकान खोली। मैंने वही बढ़िया वाली साड़ी ले ली, और जो पहले ले गया था, वह लौटा दी। अब सीधा घर का रुख़ किया। जैसे ही फाटक में प्रवेश किया, ब्रेक रोक दिया और गाड़ी को पैदल घसीटता ले चला। गाड़ी खड़ी करके बण्डल हाथ में लिया और चुपके-से दरवाज़े का रुख़ किया था कि अपने ही कुत्ते ने टाँग ली। उसे चुप किया और बरामदे में पहुँच कर रास्ता तलाश किया। सब दरवाज़े बन्द थे, ख़्याल आया कि गुसलख़ाने की चटकनी ढीली है, खुल जायगी; पर वहाँ भी असफल रहा। विवश होकर आँगन की दीवार पर चढ़ने की ठानी। नीम के नीचे भैंस बधती थी। उसकी नाँद पर खड़े होकर एक पैर दरवाज़े पर, दूसरे हाथ का सहारा लेकर अन्दर घुसा। धीरे-धीरे सोने के कमरे की ओर चला। चारों ओर सन्नाटा था। मैं चुपके से कपड़े बदल कर कमरे में दाख़िल हो गया और बड़ी फुरती के साथ लिहाफ़ के अन्दर घुस गया।

मैं समझा कि श्रीमती जी सो रही थीं। वह झूठ-मूठ खाँसी, मानो यह प्रकट करने के लिए कि मैं जागती हूँ। इधर मैं भी खँखारा कि जागती हो तो क्या कर लोगी। मेरे पास बढ़िया वाली साड़ी है। एक और करवट उन्होंने ली, और फिर बड़बड़ाईं, पर कुछ समझ में न आया। मैं भला कब दबने वाला था। मैंने कहा—"क्यों, जागती हो?"

वह बोली—"तुम्हारी बला से! तुम शतरंज खेलने जाओ। मैं कल जाती हूँ।"

"तुम भी अजीब आदमी हो।" मैंने डाँटकर कहा—बज़ाज़ के यहाँ गया था, वहाँ ख़ाँ साहब मिल गये और ज़बरदस्ती उन्होंने वही प्याज़ी रंग वाली साड़ी दिलवा दी। बहुत कुछ मैंने कहा कि दाम नहीं है मगर..."

"फिर?" श्रीमती जी ने बात काट कर कहा—"फिर वह साड़ी क्या हुई?" उठकर वह लिहाफ़ में बैठ गईं।

"होती क्या!....वहाँ से साड़ी लेकर ख़ाँ साहब के यहाँ गया। उन्होंने खाना खिलाया। दो चार आदमी..."

"होगा।" श्रीमती जी ने कहा—"होंगे आदमी, फिर वह साड़ी, वही प्याज़ी रंग वाली...."

"यह लो।" यह कह कर मैंने बण्डल लापरवाही से श्रीमती जी के लिहाफ़ पर मारा। लैम्प की रोशनी तुरन्त तेज़ करके उन्होंने तेज़ी से बण्डल खोला। साड़ी को खोलकर जल्दी से देखा, फिर मेरी तरफ़। ग़ुस्से के बजाय उनकी आँखों से प्रेममय कृतज्ञता टपक रही थी। शतरंज पर आपत्ति तो दूर रही, नाम तक न लिया। 'वह मारा अनाड़ी को।' मैंने दिल में कहा।

(५)

बहुत दिन तक तो जनाब इसी साड़ी की बदौलत ख़ूब देर करके आया। ख़ूब शतरंज होती, जैसे पहले होती थी। सिर्फ़ इतना अन्तर था कि अब मेरे घर की जगह ख़ाँ साहब के घर फड़ जमती थी।

पर धीरे-धीरे मेरी ग़ैरहाज़िरी और शतरंजबाज़ी पर फिर भौंहें चढ़ने लगीं। नरमी के स्थान पर कड़ाई और कटुता! वास्तव में अम्मा श्रीमती जी को भड़काती रहती थीं। धीरे-धीरे श्रीमती जी ने पेच कसना शुरू किया। पर शतरंज किसी न किसी तरह होती ही रही।

× × ×

सारी ख़ुदाई एक तरफ़, जोरू का भाई एक तरफ़! इसका कारण शायद यह था कि श्रीमती जी के भाई असली मानी में भाई थे। यानी सूरत-शक्ल हूबहू एक, बिलकुल एक, तनिक भी भेद नहीं था। सिर्फ़ घण्टा भर बड़े थे। जोड़वाँ बहिन-भाइयों में असीम प्रेम होता है। इसी कारण श्रीमती जी की भाँति मुझे भी श्रीमती जी के भाई अत्यधिक प्रिय हैं। पहली बार बहिन के यहाँ आये थे। बहिन का, भाई का नाम सुनते ही यह हाल हो गया कि नंगे पैर ही दौड़कर भाई से लिपट गई। भाई स्वयं व्याकुल था। छाती से लगा लिया। भाई बहिन ने घंटों जम कर एकाग्र चित्त होकर इस प्रकार बातें कीं कि मुझे ख़्याल होने लगा कि दोनों पागल हैं। बहिन अपने भाई को कितना चाहती थी, इसका अनुमान इससे हो सकता है कि मुझे श्रीमती जी का अपने भाई के प्रति प्रेम देख कर ईर्ष्या हो रही थी। प्रकट है कि श्रीमती जी के भाई को 'एक तरफ़' कहने में मैं कहाँ तक सचाई पर था।

यह शायद भाई के प्रेम का ही कारण था कि श्रीमती जी ने मुझे कोने में ले जाकर बड़े प्रेम से कहा—"देखो, अब दो-चार दिन शतरंज न खेलना!"

मैंने श्रीमती जी के सुन्दर चेहरे को देखा। किस प्रकार उन्होंने मुझसे प्रेम के साथ अनुरोध किया था। भला, एक प्रेमी पति अपनी प्राणेश्वरी के इस अनुचित अनुरोध को कैसे टाले! श्रीमती जी की आँख के नीचे किसी चीज़ का एक कण लगा था। मैंने उसको हटाने के लिए अँगुली बढ़ाई। आँखें झपका कर श्रीमती जी ने स्वयं उसे साफ़ किया। फिर हाथ पकड़ कर और भी अधिक ज़ोर देकर शतरंज खेलने को मना किया।

इसके पहले कि मैं कुछ कहूँ, श्रीमती जी के भाई ने पुकारा—"बज्जो..."

व्याकुल होकर श्रीमती जी ने कहा—"भैया..." और एकदम से जैसे 'तोड़ाकर' भागी। इतने में भैया स्वयं आ गये। "क्या कर रही है!" श्रीमती जी के भाई ने अपने सुन्दर चेहरे को विचित्र ढंग से हिलाकर मुस्कराते हुए कहा।

एक ठण्डी साँस भर कर श्रीमती जी ने इस प्रकार कहा, मानो किसी दुःखान्त कहानी का उद्धरण था—"शतरंज को मना कर रही हूँ...शतरंज..."

"क्यों?"

"दिन-दिन भर खेलते हैं, रात-रात भर खेलते हैं, और वह कमबख़्त ख़ाँ साहब हैं कि..."

"भाई ख़ुदा के वास्ते शतरंज छोड़िये। आप ब्रिज नहीं खेलते? ब्रिज खेला कीजिये।" भैया ने कहा।

"हाँ ब्रिज खेलें, पर यह शतरंज तो..."

"बड़ी ख़राब चीज़ है।" बहिन की बात काटकर भाई बोला—"बज्जो, तू इनकी शतरंज जला डाल!"

"रहा खटका न चोरी का दुआ देता हूँ रहज़न (चोर) को।" मैंने कहा—"भैया, मेरे पास..."

श्रीमती जी चीख़ कर बोलीं—"वह कमबख़्त ख़ाँ साहब ऐसे हैं कि उनके घर जा-जाकर खेलते हैं।" फिर मुझको सम्बोधित कर श्रीमती जी ने कहा—"वादा कीजिये कि जब तक भैया हैं, बिलकुल न खेलियेगा!"

अतएव मैंने पक्का वादा कर लिया—पक्का!

(६)

चलते समय श्रीमती जी ने मुस्करा कर अँगुली घुमाकर कहा था—"उधर से जाइयेगा......उधर से।"

भैया की तरफ़ मुस्कराकर मैंने देखा—"देखते हो तुम इनका पागलपन!"

भैया कुछ न समझे कि इन बातों का यह मतलब है कि ख़ाँ साहब की तरफ़ हो के न जाना। मैं तो चल दिया। बहिन अपने भाई को समझाती रही होगी कि इसका क्या मतलब है।

× × ×

"वाह भाई वाह, ग़ज़ब करते हो!" यह कहते हुए ख़ाँ साहब हाथ का सिगनल सामने किये हुए खड़े थे। "ऐसा भी क्या कि फट-फट करते, भागते जाते हो, सुनते ही नहीं।"

मैंने गाड़ी तो रोक ली, पर उतरा नहीं और वैसे ही किनारे होकर कहा—"काम से जा रहा हूँ, काम से।"

"ऐसा भी क्या है!" ख़ाँ साहब ने हाथ पकड़ते हुए कहा—"ज़रा तो बैठो।"

"अमाँ मिर्ज़ा साहब···मिर्जा जी···" मीर साहब बैठक में से बोले—"वल्लाह देखो····तुम्हें क़सम है। अमाँ सुनते नहीं··" हाथ से बुलाकर बोले—"वल्लाह, आकर ज़रा तमाशा तो देखो, कैसा लाला जी का वज़ीर घेरा है···अरे म्याँ···"

"नहीं, नहीं; हम तो तुम्हें न छोड़ेंगे।" यह कह कर ख़ाँ साहब ने घसीटा।

"बख़ुदा, मुझे बड़े ज़रूरी काम से जाना है। कल सुबह तड़के ही मोटर चाहिये। इतवार का दिन है, वैसे ही मोटर ख़ाली नहीं होती।"

"बैरिस्टर साहब के यहाँ जा रहे होंगे····मोटर लेने····क्यों, क्या करोगे!"

मैंने ख़ाँ साहब को बताया कि श्रीमती जी और उनके भाई—दोनों को कल दिन भर विभिन्न स्थानों की सैर करना है।

"लाहौल वला-कूवत।" ख़ाँ साहब ने मुझे घसीटते हुए कहा—"अमाँ, हम समझे कोई काम होगा···वल्लाह, तुमने तो ग़ज़ब ही कर दिया। ज़रा सोचो तो····भई, अन्दर चलो ज़रा।"

"मैं नहीं रुक सकता।"

"बख़ुदा, ज़रा देर को···बस, दो मिनट को···बस पान खाते जाओ।"

यह कह कर ख़ाँ साहब ने अन्त में घसीट ही लिया। बैठक में पहुँचा, तो मीर साहब मारे ख़ुशी के बेहाल थे।

"वल्लाह···भई मिर्जा, क्या बताऊँ, तुम न आये। देखो, इनका वज़ीर यहाँ था···मैंने पैदल जो आगे बढ़ाया तो···"

"तो मोहरे आप क्यों जगह से हटाते हैं। खेलना हो तो खेलिये···" यह कह कर लाला साहब ने मीर साहब को चुप किया। और उधर ख़ाँ साहब ने अपनी बातों का सिलसिला शुरू किया—"तो हाँ····वह आप क्या कर रहे थे···हाँ, तो बात यह है कि मियाँ, तुम अभी नातजुर्बेकार हो! भला, औरतों को मोटरों की सैर से क्या मतलब! ख़ुदा के लिए तमीज़ सीखो, अक्ल से काम लो! तभी तो आपको 'घर में'···आपको शतरंज भी नहीं···"

"नक़्शा देखो···अर्रारा!" मीर साहब ने ज़ोर से हाथ पकड़कर ख़ाँ साहब को हिला डाला—"वल्लाह! बादशाह का क्या घेरा है···अपना वज़ीर पिटा कर।" फिर लाला जी को सम्बोधित कर बोले—"मारिये वज़ीर, लाला साहब····वज़ीर मारना पड़ेगा···मारो तो मात और न मारो तो मात!····यह लो मोहरे····"

मीर साहब ने वास्तव में ख़ूब मात किया था। और मैं उठने लगा।

"भई हम न जाने देंगे···बग़ैर पान खाये हुए!···अरे, पान लाना।" ख़ाँ साहब ने ज़ोर से अन्दर आवाज़ दी और फिर कहा—"भई, कोई बात भी है। औरतों को अव्वल तो सैर कराना ही मना है, और फिर तुम देख रहे हो कि दिन-ब-दिन तुम्हारे घर की हालत ख़राब होती जा रही है······ आज शतरंज को मना करती हैं; कल कह देंगी, कचहरी न जाया करो··· छोड़ो इन बातों को। और न सही, तो एक ही बाज़ी मीर साहब की देख लो। चले जाना, जल्दी काहे की है।"

"मीर साहब का खेल मैंने बहुत देखा है।" मैंने कहा—"मुझे जल्दी जाना है।"

"मेरा खेल!" मीर साहब बोले—"मेरा खेल देखा है···यह कहो मज़ाक़ देखा है। तुम्हारे साथ खेलता थोड़े ही हूँ, मज़ाक़ करता हूँ।"

"उस दिन ज़िच हो गई, नहीं तो पैदली होती और वह भी पैदल पसन्द।"

"बाज़ी तो आपकी .खूब चढ़ी हुई थी।" ख़ाँ साहब ने समर्थन किया।

"जी हाँ!" मीर साहब बोले—"मैं ढील देकर काटता हूँ···अनाड़ी को बढ़ाकर मारता हूँ। और एक मेरी अब भी चढ़ी हुई है।"

"मर गये चढ़ाने वाले! मैंने ज़रा कड़े स्वर में कहा—"मीरसाहब यह शतरंज है, शतरंज!" "फिर आ जाओ न···तुम्हीं आ जाओ।"

"भई होगी···हटो, हटो।" ख़ाँ साहब ने शतरंज मेरी ओर घसीटते हुए कहा—"होगी···बस एक बाजी होगी।"

"नहीं साहब, मुझे जाना है ज़रूरी काम से।" मैंने कहा।

"हम आदमी भेज देंगे···देखा जायगा···अमाँ बैठो···रक्खो, बस एक।"

मैंने घड़ी की तरफ़ देखा, और जम्हाई लेकर कहा—"अच्छा लाइये, एक बाज़ी, मीर साहब को मात दे ही दूँ। आइये, बस एक बाज़ी होगी!"

× × ×

एक बाज़ी सचमुच मीर साहब की निगाह चूकने से हो गई, और बड़ी जल्दी हो गई, तो मैं उठने लगा। लेकिन ख़ाँ साहब ने आस्तीन पकड़ ली—"भाई यह इत्तफ़ाक़ है। यह कुछ नहीं, एक और खेल लो!"

मैंने कहा—".खैर, अच्छा खेले लेता हूँ।" और बैठ गया।

पर संयोग तो देखिए कि यह उससे भी जल्दी चट-पट हो गई। मीर साहब का चेहरा फ़क़ हो गया। अन्धेर था, दस मिनट में दो बाज़ियाँ! ख़ाँ साहब ने फिर पकड़ लिया और कहा—"यह कोई बात नहीं।"

ग़रज़ की इसी तरह पाँच बाज़ियाँ मीर साहब पर हो गईं। अब मैं भला कैसे जा सकता था! क्यों न सातों मातें करके मीर साहब की लँगड़ी बाँधूँ। और फिर दो बाज़ियाँ और यानी पूरी नौ मातें करके नौशेरवाँ कर दूँ! ज़रूर करूँगा। अभी तो बहुत वक़्त है।

मैंने कहा—"मैं जाता हूँ, नहीं तो लँगड़ी के लिए रस्सी मँगाइये!" मीर साहब ग़ुस्से में स्वयं चारपाई की अर्दवान खोलने लगे। ख़ाँ साहब ने तुरन्त रस्सी मँगा दी और अब ज़ोर-शोर से शतरंज शुरू हुई।

× × ×

एक बज गया, और अब मानो मैं चौंक-सा पड़ा। सैकड़ों नहीं तो

बीसियों बाज़ियाँ तो अवश्य हुईं; पर न तो मुझे लँगड़ी नसीब हुई और न मीर साहब सब बाज़ियाँ उतार सके। बाज़ी जल्दी से ख़त्म करके मैं शतरंज छोड़-छाड़ सीधा घर भागा। फाटक पर जब साईकिल रोकी तो आधी रात बीत चुकी थी और सवा बज गया था।

"या अल्लाह! अब क्या करूँ!" मैंने परेशान होकर कहा—"श्रीमती जी क्या कहेंगी, लाहौल-वला-कूवत! मैंने भी क्या मूर्खता की। भैया क्या कहेगा, बड़ी लड़ाई होगी।" शशोपंज़ में खड़ा सोचता रहा। परन्तु अब तो जो होना था, वह हो चुका।

× × ×

उसी दिन की तरह भैंस की नाँद पर से दीवार पार की। अन्ना के कमरे के सामने से होता हुआ तेज़ी से निकल गया। कमरे में अँधेरा था। टटोल-टटोलकर कपड़े उतारे। स्लीपर बग़ल में दाबकर बराबर वाले कमरे में प्रवेश किया, जिसमें भैया का पलँग था। बड़ी सावधानी से चारों हाथ-पाँव के बल, मानो पशु की तरह, चलने की ठहराई। और कोई उपाय ही न था। आधे कमरे में जब पहुँचा, तो माथे में मेज़ का पाया लगा। ऊपर से कोई चीज़ गरदन पर इस ज़ोर से गिरी कि उस अँधेरे में आँखों के नीचे और भी अँधेरा छा गया। वहीं दबक कर बैठ गया। मैं जानता ही था कि भैया बेसुध हो सोनेवाला है। श्रीमतीजी से भी नम्बर मार ले गया है। बिना यह देखे हुए कि यह गरदन को दबानेवाली कौन चीज़ थी, जो मेरी गरदन पर गिरी, रेंगता हुआ कमरे से निकल गया और उठकर अब श्रीमतीजी के कमरे के दरवाज़े पर पहुँचा। ख़ुदा का शुक्र है कि अँधेरा घुप था। उसी प्रकार फिर चारों हाथ-पाँव के बल रेंगना शुरू किया, क्योंकि उस दिन श्रीमतीजी उठ बैठी थीं। चुपके-चुपके पहुँचकर गड़ाप से अपने बिछौने में लिहाफ़ तान कर दम साध कर पड़ रहा। पड़े-पड़े सो गया।

सुबह देर से आँख खुली। उठा जो सही, तो क्या देखता हूँ कि श्रीमती जी बिस्तर सहित ग़ायब हैं। 'अरे!' निकल कर दौड़ा। सारा मामला ही पलट गया। न भैया था, न श्रीमतीजी और न अन्ना। नौकर ने कहा कि रात के बारह बजे की गाड़ी से सब गये। ग़ज़ब ही हो गया!

× × ×

न तो नाश्ते में जी लगा और न किसी और तरफ़। तबीअत बड़ी परेशान थी। अन्धेर हो गया। जिन कमरों में भैया और श्रीमतीजी की मज़ेदार बातों और ठहाकों से चहल-पहल थी, उनमें सन्नाटा था। इधर घूमा, उधर घूमा। घर एक उजाड़ स्थान था। थोड़ी ही देर बाद बावलों की तरह घूमने लगा। एकदम से क्रोध आया कि चलो, ख़ाँ साहब के यहाँ फड़ जमेगा। कपड़े आधे पहिने थे कि फिर तबीअत ख़राब होने लगी।

ख़ुदा-ख़ुदा करके तीन बजे। अब श्रीमती जी घर पहुँचनेवाली होंगी, अतः तार दिया "जल्दी आओ और तुरन्त तार-द्वारा जवाब दो।" पर जवाब नदारद! समय बीत गया। दूसरा तार जवाबी दिया कि "जल्दी आओ!" जवाब आया, "नहीं आते।" फिर जवाबी तार दिया—"अब शतरंज कभी नहीं खेलेंगे।" जवाब रात को आया, "ख़ूब खेलो!"

रात के बारह बजे की गाड़ी से ख़ुद रवाना हो गया।

× × ×

श्रीमती जी के घर पहुँचा। श्रीमती जी के माँ-बाप दोनों श्रीमती जी से बहुत नाराज़ थे। पर श्रीमती जी तब चलने को राज़ी हुईं, जब ख़ुदा और रसूल और ज़मीन तथा आसमान और क़ुरानशरीफ़ तथा स्वयं श्रीमती जी के सिर और भैया तथा श्रीमती जी के प्रेम की सौगन्ध खाई। वह भी बड़ी कठिनाई से। वह दिन और आज का दिन है कि मेरी शतरंज ऐसी छुटी है कि कह नहीं सकता। पर मैं सोच में रहता हूँ कि कौन-सा उपाय निकालूँ! शायद कोई शतरंज का खिलाड़ी बता सके। इस पत्नी को मार डालो और दूसरी शादी करो [illegible]

क़र्ज़ और प्रेम

मेरे ड्राइंग रूम में एक बहुत ही सुन्दर आईने का चौखटा लगा है। उस पर सुनहरे अक्षरों में लिखा है—'क़र्ज़ बुनियादे मोहब्बत अस्त' (क़र्ज़ प्रेम का आधार है)। नीचे अँगरेज़ी में इसका अनुवाद लिखा है। प्रत्येक व्यक्ति मुझसे यही पूछता है कि इसका क्या मतलब! अतएव आज मैं बताये देती हूँ।

यह तब की बात है जब मेरा विवाह नहीं हुआ था। संध्या का समय

था और मैं छावनी से अपने घर की ओर चली जा रही थी। मैंने देखा कि एक बड़े मियाँ कुरसी पर एक बड़ी भारी अर्थात् कई गज़ की नक़ली क़ैंची लिये दोनों हाथों से हँस-हँसकर और उछल-उछल कर क़ैंची के दोनों फल चला कर चिल्ला रहे हैं—"क़र्ज़ मिक़राज़े मोहब्बत अस्त।" अर्थात् क़र्ज़ प्रेम काटनेवाली क़ैंची है।

उनको चारों ओर से घेर कर खड़े हुए लोग हँस रहे हैं। मुझे देखते ही बड़े मियाँ चिल्लाये—"मिस साहिबा, ज़रा इधर तशरीफ़ लाइयेगा।"

मैंने उनके दिलचस्प और हास्यास्पद चेहरे को देखा। बड़े मियाँ बेतरह खिल रहे थे। मुझे उनकी हुलिया देख कर बड़ी हँसी आई। क्योंकि बातें करने में भी क़ैंची के बड़े-बड़े नक़ली फलों को हिला रहे थे। मैं उनके पास मुस्कराती हुई पहुँची और मैंने कहा—"कहिये, हुक्म।"

"क्या मैं आपका नाम मालूम कर सकता हूँ?" बड़े मियाँ ने बड़े मनोरंजक ढंग से पूछा।

मैंने नाम बताया कि "मेरा नाम मिस ई० जॉन्सन है।"

"शुक्रिया! शुक्रिया।" बड़े मियाँ ने क़ैंची के फलों को हिलाते हुए कहा—"शायद......शायद मिस साहिबा आप किसी स्कूल में......."

"जी नहीं", मैंने कहा, "मैं लेडी डाक्टर हूँ। कहिये, आप क्या कहना चाहते हैं?"

"ओहो हो"! बड़े मियाँ अपने चेहरे पर भूकम्प उत्पन्न करके बोले, "ओहो! बस, कुछ न पूछिये बीमारों का हाल, एक से एक बेईमान पड़ा है। फ़ीस को कहते हैं कि कल दे जायेंगे। दवा के दाम कहते हैं कि महीने पर देंगे। यह नहीं देखते कि हमारी लेडी साहिबा के पास कोई ख़ज़ाना तो है नहीं; कोई लॉट्री तो निकल नहीं आई है। आख़िर दुनिया में काम भी तो चलाना है; पर लोग हैं कि नहीं मानते। मुरव्वत और काम बिगाड़ देती है। ग़रीब अपनी ग़रीबी का बहाना करते हैं और अमीर अपनी फ़ुर्सत का। नतीजा यह है कि दवाइयों के दाम न आज आते हैं और न कल।" इतना कह कर बड़े मियाँ मेरी ओर देख कर बोले—"क्यों मिस साहिबा, मैं झूठ तो नहीं कहता हूँ?"

मुझे हँसी आ गई। क्योंकि इससे अधिक सचाई और सफ़ाई के साथ मेरा हाल कोई नहीं बता सकता था। अतएव मैंने उनसे कहा—"बड़े मियाँ; आप बिलकुल सच कहते हैं। मगर आख़िर इसका इलाज?"

"ओहो!" बड़े मियाँ ने कहा—"बस, इलाज ही के तो दाम माँगता हूँ, इसका मेरे पास शर्तिया इलाज है; पर साढ़े सात रुपये ख़र्च करना पड़ेंगे और वह भी अभी, और इलाज मुझसे लीजिये।"

यह कहकर एक सुन्दर बक्स की ओर उन्होंने हाथ बढ़ाया जो एक ऊँची-सी मेज़ के ऊपर रक्खा था, और बोले—"और फिर मज़ा यह कि अगर पसन्द आये तो लीजिये, नहीं तो कोई ज़बरदस्ती नहीं।"

यह कह कर बड़े मियाँ ने सन्दूक खोला और उसमें से एक चौखटा निकाला, जिसमें मुँह देखनेवाले आईने में बड़ी सफ़ाई से यह इबारत लिखी थी—"क़र्ज़ मिक़राज़े मोहब्बत अस्त।" (क़र्ज़ प्रेम को काटनेवाली कैंची है)

मैं चौखटे को ग़ौर से देख रही थी। बड़े मियाँ बोले—"बस, आप इसको लेजाइये और कमरे में लगा दीजिये। कमसे कम थोड़ी बहुत ज़रूर इससे बचत होगी।"

मैंने इस योजना को पसन्द किया और जेब से दस का नोट निकाल कर दिया। वह बोले—"मेरे पास वापस करने को दाम नहीं है।"

बराबर में एक हिन्दुस्तानी जैण्टिलमैन खड़े थे। उनसे पूछा कि आपके पास रुपये होंगे, तो उन्होंने बटुआ खोल कर देखा और कहा—"मेरे पास भी नोट है, पाँच रुपये का।"

बड़े मियाँ तो मसख़रापन कर ही रहे थे, उन्होंने कहा—"नोट मुझे दीजिये। उन्होंने बड़े मियाँ को दे दिया और बड़े मियाँ ने उसके बदले में एक वैसा ही दूसरा चौखटा निकाल कर उनको दे दिया और पाँच का नोट मुझे देकर बोले—"आपको बजाय साढ़े सात के पाँच रुपये में मिलेगा।" फिर जैण्टिलमैन को सम्बोधित कर बोले—"आपको भी ढाई रुपये का फ़ायदा रहा। मेरे पास सिर्फ़ दस पहुँचे और मुफ़्त में पाँच रुपये का नुक़सान मुझे रहा।"

लोग यह चुटकुला सुनकर हँस पड़े, तो बड़े मियाँ बोले—"अरे साहब,

और लोग हँसते क्या हैं। ये दोनों ऐसे तो हैं नहीं, जो मेरा ढाई-ढाई रुपया मार लें।"

"मगर मुझे तो इसकी ज़रूरत नहीं।" हिन्दुस्तानी जैण्टिलमैन ने कहा।

"अरे!" बड़े मियाँ ने पलकें झपकाते हुए कहा—"मिस्टर आप भी अजब आदमी हैं! अजी हज़रत, आप ज़रूरत को देखते हैं कि नफ़ा को! और फिर आप न लेंगे तो इधर आपका ढाई रुपए का नुक़सान होगा और उधर मिस साहिबा को अलग ढाई रुपए देने होंगे। क्योंकि एक के दाम साढ़े सात रुपए हैं और दो की क़ीमत सिर्फ़ दस।"

लोग बड़े मियाँ की इस वाक्-चातुरी पर हँसने लगे। दो-चार आदमियों ने और ख़रीदारी की, और मैं वहाँ से चलती बनी। उस फ्रेम को मैंने अपने कमरे में लगा दिया, जहाँ रोगी बैठते थे, जिसमें कि प्रत्येक व्यक्ति की निगाह उस पर पड़ती रहे। बात यह है कि मेरे ख़र्च बहुत बड़े थे। नया-नया काम था और आमदनी तथा ख़र्च का यह हाल था कि बड़ी मुश्किल से खींच-तान कर गुज़र होती थी, बल्कि नादहन्द रोगियों के कारण कभी-कभी स्वयं क़रज़दार हो जाना पड़ता था।

(२)

डाक्टर व्यास शहर के मशहूर सर्जन थे, और फिर मेरी तो सभी डाक्टरों से मुलाकात थी। उनके यहाँ कोई विशेष उत्सव था, जिसके सिलसिले में उन्होंने अपने मित्रों और सम्बन्धियों के अतिरिक्त नगर के समस्त डाक्टरों को भी आमंत्रित किया था, और मुझसे ख़ास ताकीद कर दी थी।

मैं जो पहुँची तो क्या देखती हूँ कि नगर के प्रायः सभी डाक्टर इकट्ठे हैं। उस समय सिर के दर्द के एक विचित्र रोगी की चर्चा हो रही थी। नगर के एक अत्यन्त धनी नवयुवक की चर्चा हो रही थी, जिसको सिर के दर्द का यह विचित्र रोग था। उनके सिर में कालेज में दर्द हुआ। अधिक काम करने से सिर में दर्द होता और काम छोड़ कर बैठ रहने से भी सिर में दर्द होता था। अगर क्लास में जायँ, तो सिर का दर्द बढ़ जाये और खेलने जायँ तो बढ़ जाये। इस कारण परीक्षा न दे सके कि सिर में दर्द है और फिर परीक्षा न देने के कारण भी और सिर-दर्द हुआ। मतलब यह कि सिर का दर्द

भी निराला था। काम करो तो बढ़ जाये, आराम करो तो बढ़ जाये। यहाँ उन रोगी की बड़ी तारीफ़ हो रही थी, क्योंकि वे क़रीब-क़रीब सब का इलाज करा चुके थे और प्रत्येक डाक्टर को भरपूर रुपया खिला चुके थे। सब का ख़याल था कि बड़ा ही शिष्ट और बड़ा ही सभ्य अर्थात् बड़ी ही उदारता से डाक्टरों को अँधा-धुन्ध फ़ीस देने वाला रोगी है, जो माँगो वह देता है, बल्कि अधिक देता है।

बात दरअसल यह है कि ऐसे रोगी बड़ी कठिनाई से मिलते हैं। सबका एक मत था कि सिर-दर्द का असली कारण वहम और बेकारी तथा कसरत न करना और दिन भर पड़ा रहना था। कोई उनका दोस्त न था। क्यों? केवल इसी सिर-दर्द के कारण। कोई निकट का सम्बन्धी या रिश्तेदार स्त्री-पुरुष कोई न था। सारांश यह कि उन अजीब ग़रीब रोगी की अपने अनुभव के अनुसार सभी ने चर्चा की और सब ने स्वीकार किया कि उनके सिर-दर्द का इलाज असम्भव है।

(३)

एक दिन की बात है कि मैं ड्रेसिंग-रूम में थी कि कमरे के बाहर से नौकर ने घण्टी बजाई अर्थात् सूचना दी कि कोई रोगी आया है। मैंने घण्टी की रसीद दी। मतलब यह है कि ड्राइंग-रूम में उतरवाओ। ड्राइंग रूम में परदे का पूरा प्रबन्ध था, और डोली या गाड़ी पर जो रोगिणी आती उसको मैं उसमें उतरवाती थी। औषधालय बाहर बरामदे में था।

मैं कपड़े पहिन कर ड्राइङ्ग-रूम में आई तो देखा कि एक आदमी ओवरकोट पहिने मफ़लर में सिर और मुँह लपेटे उस तरफ़ मुँह किये मेरी बड़ी रंगीन तस्वीर को देख रहा है। मैं समझी कि रोगिणी का कोई सम्बन्धी है। कमरे का फ़र्श चूँकि मुलायम था, इस कारण उनको मेरे आने की आहट तक न मालूम हुई। जब मैंने स्वयं ज़ोर से कुरसी खींची तो वे मेरी ओर घूमे। अँगरेज़ी में सलाम के बाद मैंने उनसे बैठने को कहा और स्वयं भी बैठ गई। उस समय उनका मुँह ओवरकोट के कॉलर और मफ़लर में इस तरह छिपा हुआ था कि सिवाय नाक के चेहरे का कोई भाग न दिखाई देता था। वे बैठ गये। मैं प्रतीक्षा कर रही थी कि वे कुछ कहें, किन्तु वे चुप-

चाप मेज़ कुरेद रहे थे। मुझे बड़ा गुस्सा आया और मैंने कहा—"कहिये क्या काम है ?"

"आप डाक्टर जॉन्सन की बेटी है ?"

"जी हाँ ! कहिये।" मैंने कहा।

"मैं उनसे मिलना चाहता था।"

अब मैं यह समझी कि यह पागल है। मैंने ग़ौर से आँखों को देखा। मुझे कुछ हँसी-सी आई। मुझे शरारत सूझी और मैंने भी बड़ी गम्भीरता के साथ कोनेवाली उस मेज़ की ओर, जिस पर छोटी-सी आलमारी रक्खी थी और बड़े-बड़े अक्षरों में 'ज़हर' लिखा था, इशारा करके कहा—"मेरे पिता से अगर भेंट करना बहुत ज़रूरी हो तो उसमें से आपको एक ख़ुराक लेनी पड़ेगी।"

"माफ़ कीजियेगा।" उन्होंने कहा—"मैं डाक्टर साहब से मिलना चाहता था।"

"कौन डाक्टर साहब ?" मैंने पूछा।

उन्होने अँगुली से बाहर की ओर संकेत किया और बोले—"मैंने जल्दी में साइनबोर्ड नहीं पढ़ा, जिनका यह दवाख़ाना है उन्हीं से मैं मिलना चाहता हूँ।"

"पर यह दवाख़ाना तो मेरा है और मैं लेडी डाक्टर मिस जॉन्सन हूँ, आप किसे दिखाना चाहते हैं, अगर कोई रोगिणी है तो मैं सेवा के लिये तैयार हूँ।'

"मैं ख़ुद रोगी हूँ।"

"माफ़ कीजियेगा।" मैं ने कहा—"मैं समझी कि कोई औरत है। मैं सिर्फ़ औरतों का इलाज करती हूँ।"

वह बोले—"ओहो, माफ़ कीजियेगा, मुझसे बड़ी भूल हुई।" अब उन्होंने चेहरे से गुलूबन्द हटा दिया था। अच्छी ख़ासी दाढ़ी थी। वैसे नवयुवक लगते थे। चेहरे का रंग साफ़, किन्तु ज़र्दी लिये हुए था।

मैंने कहा—"कोई हर्ज नहीं है। जल्दी में शायद आपने साइनबोर्ड नहीं पढ़ा।"

"जी हाँ।" उन्होंने कहा—"यही ग़लती हुई। जल्दी में देखा नहीं मैंने....आप औरतों का इलाज करती हैं...लेकिन क्या आप अपनी कम्पाउडर से न कह देंगी कि मुझे वह इस वक़्त दवा की एक ख़ूराक बना दे..."

मैंने बात काटते हुए कहा—"माफ़ कीजिये, मैं सिर्फ़ औरतों का इलाज करती हूँ।"

वह बोले—"लेकिन इसमें शायद कुछ नुक़सान नहीं होगा कि आप एक ख़ूराक दवा दिलवादें। मुझे बेहद और सख़्त ज़रूरत है, मेरीबड़ी बुरीहालत है।"

मैंने कहा—"आपको क्या दवा चाहिये, जो लेना हो वह बाहर दवा-ख़ाने से ले लीजिये, इसमें पूछने की ज़रूरत ही क्या है?"

वह बोले—"मैं दवा का नाम क्या जानूँ। आप कह दीजिये कि कोई ऐसी दवा दे दें जिससे सिर के दर्द में आराम हो। मैं सिर-दर्द का पुराना रोगी हूँ। आज सुबह तड़के मुझे अपने एक मित्र को स्टेशन पहुँचाने जाना पड़ा। ताँगे में सिर-दर्द बढ़ जाने का डर था, इसलिये पैदल ही चला आ रहा हूँ और देखता आ रहा था कि किसी डाक्टर का साइनबोर्ड दिखाई पड़ जाये तो दवा लूँ।"

मैंने संकेत किया कि बैठिये, क्योंकि मैं जान गई कि यह कौन महाशय हैं। वह बैठ गये, तो मैंने कहा—"जनाब का नाम मिस्टर मोहसिन तो नहीं है?"

"जी हाँ।" उन्होंने चौंक कर कहा—"आपको कैसे मालूम हुआ?"

मैंने संक्षेप में बताया कि किस तरह डाक्टर व्यास और दूसरे डाक्टर आपके सिर-दर्द का ज़िक्र कर रहे थे। आपका रोग पुराना है और बिना आपका मुआयना किये हुए कोई दवा देना सिद्धान्त के ख़िलाफ़ है।"

वह भोलेपन से बोले—"तो आप मेरा मुआयना कर लें।"

मैंने कहा—"मैं कह चुकी हूँ न, कि मैं सिर्फ़ औरतों का इलाज करती हूँ।"

"तो फिर मुझे तो आपको दवा देनी ही होगी।"

"मैं बिना देखे-भाले आपको दवा नहीं दे सकती।"

"तो आप मेरा मुआयना कर सकती हैं। मैं आपको डबल फ़ीस दूँगा।"

'डबल फ़ीस,' मैंने अपने दिल में कहा, बत्तीस रुपए! फिर मैंने सोच

कि अगर यह आदमी मुझे बत्तीस रुपए दे तो क्या हर्ज है। मुझे मालूम ही है कि बड़ा शिष्ट और सज्जन आदमी है। अतः मैंने कहा—"बत्तीस रुपए होंगे।"

"बहुत अच्छा।" उन्होंने कहा—"आप मुआयना कीजिये।"

मैंने पुरुषों का कभी निरीक्षण नहीं किया था; परन्तु पेट बुरी बला है। मैंने यन्त्र निकाल कर सीना देखा, फिर पीठ पर से बजा कर देखा, जिगर देखा। दिल देखा, ग़रज़ अच्छी तरह निरीक्षण करके मैंने राय क़ायम की। नुस्ख़ा लिखा। दवाई खाने की दिन में तीन बार, सुबह तड़के जलपान के बाद और दोपहर तथा शाम को भोजन के बाद। और तेल गरदन तथा सिर की मालिश के लिये तजवीज़ किया। इसके बाद उनको मालिश का तरीक़ा समझाया कि किस प्रकार मालिश की जाय। रक्त-संचार का सिद्धान्त संक्षेप में बताकर मैंने मालिश का क़ायदा समझाया। इस पर वे घबरा कर बोले कि मालिश का तरीक़ा मेरी समझ में बिलकुल नहीं आया। मैंने फिर स्पष्ट किया तो फिर उनकी समझ में न आया। अन्त में मैंने कहा कि आप कहें तो मैं आज ख़ुद मालिश करके बता दूँ, तब आपको समझ में आ जायगा। पर इसका आपको अलग से फ़ीस देनी पड़ेगी। वह राज़ी हो गये, तो मैंने उनको कुरसी पर क़ायदे से बैठाया और गर्म स्पंज लेकर सेंक और मालिश अच्छी तरह से की। कुरसी पर उनको कष्ट हो रहा था। मैंने यों ही कहा कि यह कुरसी इस काम की नहीं है। मैंने ढाई सौ रुपए की कुरसी ख़ास इसी मालिश और सिर तथा मुँह के इलाज के लिये मँगाई है। मैं मालिश करती जाती थी और इस वहमी रोगी को कुरसी की बनावट बताती जाती थी। मैंने यह भी कहा कि कुरसी आई हुई स्टेशन पर पड़ी है। मैं आज ही उसका वी० पी० छुड़ा लूँगी। यह मैंने इस ख़याल से और भी कहा कि फ़ीस आदि नक़द मिलने में कोई झगड़ा न हो।

मालिश के बाद ही मैंने गर्म चाय का एक प्याला और दो अण्डे बताये थे। अतः इसका भी मुझे अपने रोगी के लिये प्रबन्ध करना पड़ा। मैंने मालिश के बाद अच्छी तरह से गर्म पानी से धोकर गुलूबन्द लपेट दिया और गर्मागर्म चाय और अण्डे खिला कर अपना बिल पेश कर दिया।

बत्तीस रुपए मुआयने की फ़ीस, दस रुपये मालिश की फ़ीस और सात रुपए की दवाएँ यह बिल बना कर उनको दे दिया। जेब में उनकी कुल बीस रुपए निकले। बाक़ी रुपये के लिये उन्होंने कहा कि मैं घर जाकर भेज दूँगा। मैंने चुप होकर उस सुन्दर चौखटे की ओर देखा, जिस पर लिखा था—क़र्ज़ प्रेम को काटने की कैंची है।

उन्होंने भी उस ओर देखा और मतलब समझ गये। बोले—"एक मेरे पास भी है, बिलकुल ऐसा......मगर मैंने आपको कहीं देखा है शायद........"

एकदम मैंने भी उनको पहिचान लिया। "ओहो!" मैंने कहा—"मैंने और आपने साथ ही साथ चौखटे ख़रीदे थे। आपने रूप बदल रक्खा है। उस वक्त आपके दाढ़ी बिलकुल नहीं थी।"

इसके बाद फिर चौखटे के ख़रीदने का विवरण सुनाकर हम दोनों ने पुष्टि की। चलते समय बड़े शिष्टाचार के साथ विदा हुए और गये हुए एक घण्टा भी न बीता होगा कि आदमी बिल के बाक़ी रुपए लेकर आगया।

दूसरे दिन उनका एक पत्र आया। उसमें लिखा था कि आपने जो मालिश को थी, उससे मेरी आँखें खुल गई थीं और यहाँ कोई नौकर वैसी मालिश नहीं कर सकता। अतएव यदि आप नित्य मालिश कर दिया करें तो मैं आजाया करूँ। मैं आपकी फ़ीस दे दिया करूँगा। मैंने जवाब में लिख दिया कि मैं आपसे बजाय दस के सात रुपए रोज़ाना फ़ीस के लूँगी और मालिश करना मुझे मंजूर है। फ़ीस मैंने इस कारण कम कर दी कि मैंने सोचा ऐसे भोले-भाले और सीधे रोगी को अधिक लूटना ठीक नहीं है, अतः अगले दिन से उन्होंने आना शुरू कर दिया। पचास रुपए फ़ीस के पेशगी दे दिये।

चौथे दिन वह बोले—"आपने वह कुरसी जो मँगाई थी वह नहीं आई!" बात दरअसल यह थी कि मैंने दवाइयों का पारसल मँगा लिया था और उसका वी० पी० न छुड़ा सकी थी। मैंने स्पष्ट कह दिया कि रुपए के कारण कुरसी न छुड़ा सकी।

"वाह!" उन्होंने कहा, "आप रुपया हम से ले लेतीं। अब तार दे

दीजिये। मैं रुपया आपको दे दूँगा। वह फ़ीस में कटता रहेगा। मुझे उस पर आराम मिलेगा।"

बात चूँकि ठीक थी, अतः मैंने स्वीकार कर लिया और तार दे दिया। तीसरे दिन कुरसी आगई और दाम मिस्टर मोहसिन ने दे दिये। अब वह इस कुरसी से बड़े ख़ुश थे। बात भी वास्तव में ठीक थी। वह आराम के साथ कुरसी पर बैठ क्या जाते मानो लेट जाते, और मैं बड़ी अच्छी तरह मालिश करती।

एक दिन जो वक़्त पर आये तो मैं नई दवाइयों का बीजक लिये बैठी थी। उसे देख कर बोले—"ओहो, ये आप उधार मगाती हैं और कारख़ाने वाला इस पर इतना सूद लेता है, दो सौ के लगभग!"

मैंने कहा—"लाचारी है, क्योंकि दवाख़ाना दरअसल चल ही इस तरह रहा है। फिर रोगी लोग दवाइयों के दाम महीनों नहीं देते।"

वह बोले—"तुम हमसे ले लो न दाम, फिर अपनी फ़ीस में काटती रहना।"

"बाईस सौ रुपये फ़ीस के?" मैंने हँस कर कहा—"मिस्टर मोहसिन, आपका शुक्रिया! मैं क़र्ज़ किसी का भी नहीं करना चाहती। आप जानते हैं—"क़र्ज़ मिक़राज़े मोहब्बत अस्त।"

वह हँस कर बोले—"मेरे पास भी तो यही साइन-बोर्ड है। मैं जानता हूँ, तभी तो डाक्टरी दवाएँ इतनी मँहगी होती हैं कि सैकड़ों रुपये आप सूद ही में दे देती हैं। अगर सूद न देना पड़े तो दवाइयों की क़ीमत भी ज़रूर घटे और हम यानी मरीज़ लोगों को दवाइयाँ सस्ती मिलें।"

"बात तो ठीक है।" मैंने कहा—"मगर मजबूरी है। काम ऐसे ही चलता है।"

वह बोले—"आप बेखटके मुझसे ले लें, मैं तो अभी काफ़ी दिनों तक इलाज कराऊँगा।"

मैंने शुक्रिये के साथ इनकार कर दिया। बात आई-गई हो गई।

× × ×

उसी सप्ताह मैंने एक दिन डाक जो खोली तो दवाईवालों की बाईस

सौ रुपये की मेरे नाम की रसीद निकली। साथ ही धन्यवाद का पत्र कि दाम मिल गये। मैं बड़े आश्चर्य में थी कि यह मामला क्या है। पर इतना जान गई कि रुपया मिस्टर मोहसिन ने भेजा है। वही पता याद करके ले गये और रुपये भेज दिये। दूसरे दिन मिस्टर मोहसिन आये, तो मैंने उनसे शिकायत की कि यह आपने क्या किया! करने को वह कर ही चुके थे। शुक्रिया अदा करने के अतिरिक्त और मैं कर ही क्या सकती थी! जब वह मालिश करा के चले गये, तो मैंने बाइस सौ रुपये की एक रसीद टिकट लगाकर मिस्टर मोहसिन के पास भेज दी। नौकर जवाब में पत्र लाया। खोलकर जो देखा तो उसी रसीद के टुकड़े-टुकड़े मिले और कुछ नहीं। दूसरे दिन मिस्टर मोहसिन से जब कहा कि यह क्या मामला है तो कुछ बिगड़ कर बोले—"न मैं महाजन हूँ, न मेरे बाप महाजन थे, जो मैं रसीदें लिखवाता फिरूँ, फ़ीस में काटती जाओ, जो बाक़ी बचे वह अदा कर देना।

लाचार हो मुझे यह भी मानना पड़ा।

(४)

मेरे इलाज से मिस्टर मोहसिन को बड़ा लाभ था। क्योंकि मैंने ताकीद कर दी कि नित्य मेरे यहाँ पैदल आयें। नित्य की चहलक़दमी ने उनके स्वास्थ्य पर विशेष प्रभाव डाला। मिस्टर मोहसिन बड़े सज्जन पुरुष थे और सुबह तो कम देर बैठते, पर शाम को बहुधा टहलने जाते तो कभी-कभी मेरे यहाँ भी हो जाते।

एक दिन की बात है कि वह बिना सूचना दिये ड्राइंग-रूम में चले आये। मैं नक़्शा फैलाए बैठी थी। जैसे ही मैंने उन्हें देखा तो नक़्शे को छिपाने की कोशिश की। लेकिन उन्होंने आग्रह किया तो मैंने दिखाया। यह नक़्शा 'जॉन्सन अस्पताल' का था। मेरी मूर्खता तो देखिये कि कलकत्ते की एक प्रसिद्ध इञ्जीनियरिङ्ग-फ़र्म से साठ रुपए देकर यह नक़्शा तैयार कराया था। सोचा यह था एक अस्पताल बनेगा, उसका बड़ा-सा अहाता होगा। अन्दर दो बंगले होंगे, टेनिस कोर्ट होगा। यह मेरा होगा और इसका नाम मैं जॉन्सन ज़नाना अस्पताल रखूँगी। रोगियों के रहने के लिये क्वार्टर होंगे। ग़रज़ फ़र्स्ट क्लास अस्पताल होगा। इसका तख़मीना मैंने लगाया तो पता

चला कि चालीस हज़ार में तैयार होगा। ज़मीन मैंने 'चक्कर वाली सड़क' पर काफ़ी पहले से देख रक्खी थी कि यह हिस्सा ख़रीदूँगी! मोहसिन साहब ने जब यह सुना तो बहुत हँसे और कहने लगे—"रुपया नदारद और यह सब कुछ सामान पहिले से कर लिया।"

मैंने जवाब दिया—"इसीलिये तो आपको दिखाना चाहती थी।"

मेरे अस्पताल में जो बँगले थे उनका डिज़ाइन बहुत पसन्द किया और मुझसे कहा कि दो दिन के लिये नक़शा मुझे दे दो। और दो दिन बाद वह नक़शा मुझे दे गये।

× × ×

इलाज के कई महीने हो गये थे, और अब सिर-दर्द की चर्चा तक न होती थी; पर मालिश अवश्य होती थी। न वे इसमें कुछ आपत्ति करते और न मैं।

मुझे इस बीच डाक्टरी के कुछ विशेष यन्त्र ख़रीदना थे और सूचीपत्र लिये देख रही थी। मैंने जगह-जगह निशान लगा रक्खे थे, पर रुपए-पैसे के कारण न मँगा सकती थी! एक दिन मैं फिर उस सूचीपत्र को देख रही थी कि मिस्टर मोहसिन आगये। वह भी सूचीपत्र देखने लगे। मैं उनको भिन्न औज़ारों की आवश्यकता और उपयोग बता रही थी। चर्चा जो छिड़ी, तो मुझे बताना पड़ा कि रुपया न होने के कारण नहीं मँगा सकती।

कहने लगे—"हमसे ले लो न, फ़ीस में काटती रहना।"

मैंने ग़ौर से देखा, मुझे एकदम से हँसी आई और मैंने कहा—"मिस्टर मोहसिन, आपकी फ़ीस न हुई, एक मुसीबत हो गई। आपकी वैसे ही क्या कम मेहरबानियाँ हैं! मुझे क़र्ज़े की ज़रूरत नहीं है। न जाने कैसे-कैसे तो मैं आपका क़र्ज़ अदा कर रही हूँ।"

फिर इधर-उधर की बातें करके वे चले गये।

कोई पन्दरह दिन बाद मोहसिन साहब का आदमी मेरी अनुपस्थिति में एक पारसल मेरे यहाँ लाया, और बढ़ई से खुलवाकर सब औज़ारों के बक्स निकलवा कर सजाना शुरू कर दिये। मैं जो आई तो देखकर भौंचक्की रह गई। असलियत जो मालूम हुई, तो मैं सन्नाटे में आ गई। एक ख़त में बिगड़ कर उन्हें लिखा, कि इसे मैं सहन नहीं कर सकती और ये वापस हैं।

अपने नौकर के हाथ मैंने सब सामान वापस भेज दिया। दूसरे दिन वे आये, तो एक डिब्बा बग़ल में दाबे लाये। उन्होंने अपनी भूल स्वीकार की और कहा कि अच्छा यह डिब्बा उधार ले लो। मैं राज़ी हो गई। इसी तरह धीरे-धीरे पूरे साढ़े तीन हज़ार रुपए के औज़ार एक-एक डिब्बा करके महीने भर में इन महाशय ने मुझे उधार दे दिये।

× × ×

इस घटना के कोई पाँच महीने के बाद की बात है। मिस्टर मोहसिन बराबर इलाज करा रहे थे। बात दरअसल यह है कि बीमारी का ज़िक्र न वे करते, न मैं। न वे कहते कि मैं अच्छा हो गया, और न मैं कहती कि तुम अच्छे हो गये। अब इलाज मत कराओ। खाने की दवाइयाँ अवश्य वे छोड़ चुके थे। बस, उनका इलाज तो यह था कि वे आये और अपनी पसन्द की कुरसी पर बैठ गये। और मैं आई तो मैंने उनके सिर की मालिश कर दी। फिर सुबह की जगह मैंने समय भी बदल कर शाम कर दिया था। इसके बाद फिर अकसर टहलने जाते थे। मैं कहती थी कि यह कितना सीधा-सादा और मिलनसार आदमी है। कोई ऐब नहीं है। बस, ज़रा दाढ़ी बढ़ाये चला जा रहा है। मालिश करने में यह दाढ़ी मुझे बहुत कष्ट देती थी। एकाध बार सावधानी के साथ मैंने उसके सम्बन्ध में रिमार्क भी कसा था, पर उन्हें शायद दाढ़ी आवश्यकता से अधिक पसन्द थी, और वे उसको बैठे हुए बहुधा कुरेदते रहते थे।

जैसा कि मैं कह चुकी हूँ, कोई पाँच-छः महीने के बाद की बात है कि मैं विचित्र उलझन में फँस गई। जिस मकान में किराये पर मैं रहती थी, वह बिक रहा था। साढ़े सात हज़ार रुपया माँगता था। मैं चालीस रुपया महीना किराया देती थी, और साढ़े सात हज़ार में कौड़ियों के मोल जा रहा था। मुझे आशा थी कि सात हज़ार में तुरन्त और अवश्य मिल जायगा। मैं देर तक सोचती रही। न जाने क्या सूझी कि मोहसिन साहब के हिसाब का रजिस्टर उठा लाई। मेरी आँखें खुली की खुली रह गईं। मैं सोचने लगी कि भगवान् इस सीधे-सादे आदमी का क़र्ज़ कैसे अदा करूँगी। लगभग दो सौ रुपए मासिक से अधिक मैं मालिश के सिलसिले में इस भोले-भाले व्यक्ति

से ठग रही थी। परन्तु वहाँ तो हज़ारों की रक़म थी। कारण कि मेरे ख़र्च बढ़ गये। मैं इसी चिन्ता में थी कि योजना बना कर दवाख़ाने की सारी आय क़र्ज़े में दे दिया करूँ! अतएव मैंने इतमीनान से बैठ कर योजना बना ली। मुझे योजना बनाने से प्रसन्नता हुई, निश्चिन्तता-सी हो गई।

इसके बाद फिर मैं मकान की समस्या पर विचार करने लगी। मैंने सोचा कि ऐसा अच्छा सौदा हो रहा है, मिस्टर मोहसिन से कहूँ कि वे ले लें। उन्हीं का लाभ हो जायगा। एक दिन शाम को मोहसिन साहब आये, तो मैंने ज़िक्र किया। उन्होंने मेरी ओर देखा और कहने लगे—"तुम क्यों न ख़रीद लो।"

मैंने कहा—"मेरे पास रुपया होता तो तुमसे क्यों कहती?"

वह बोले—"रुपया हमसे ले लो उधार।"

मैंने हँस कर कहा—"आपकी मेहरबानी का बहुत बहुत शुक्रिया!"

"हँसी नहीं।" वे गम्भीरतापूर्वक दाढ़ी कुरेदते हुए बोले, "फ़ीस में कटता रहेगा।"

मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा—"फ़ीस न हुई एक मुसीबत हो गई। दुनिया के क़र्ज़े हैं कि इसमें कट रहे हैं।"

वह बोले—"बरसात आ रही है। मुझे बुख़ार-उख़ार भी तो आख़िर आयगा। उसकी भी तो फ़ीस होगी।"

मुझे और हँसी आई और मैंने कहा—"मुझे डर है कि यह आपके सिर-दर्द का असली कारण शायद कुछ और ही है। और उसका इलाज भी शायद दूसरा है।"

दाढ़ी कुरेदते हुए बोले—"तो वह इलाज कब करोगी?"

मैंने कहा—"आप फ़िज़ूल बातें करते हैं। मौक़ा हाथ से निकल जायगा, और ऐसा मकान नहीं मिलेगा।"

वह बोले—"तुम्हारी सलाह है तो ले लूँगा। तुम बात पक्की कर लो, बल्कि ख़रीद ही लो। सुबह मैं बैनामे की रजिस्ट्री कराने को अपने मुख़्तार-आम से कह दूँगा।"

(५)

मकान का सौदा सात हज़ार में मैंने बड़ी कठिनाई से कर दिया।

रुपया भी अदा हो गया। किन्तु पाँचवें दिन रजिस्ट्री का दस्तावेज़ और उसका अँगरेज़ी अनुवाद जो मेरे पास पहुँचा, तो मेरी ऊपर की साँस ऊपर और नीचे की नीचे! क्योंकि आप विश्वास करें कि यह सब मेरे नाम था, मानो मैंने ख़रीदा है। अब मैं कुछ सोच में पड़ गई। कहीं यह महाशय मेरे ऊपर आशिक़ तो नहीं हो गये। कहीं ये मुझसे विवाह करने के इच्छुक तो नहीं। सहसा मुझे ख़्याल आया कि हो न हो ऐसा ही है, और यदि ऐसा है तो बड़ी मुसीबत का सामना होगा। मोहसिन एक अच्छे मित्र तो हैं, पर इससे अधिक के न अधिकारी हैं, न उपयुक्त; कम से कम मेरे लिये! इस विषय पर काफ़ी देर मैं सोचती रही, परन्तु फिर मेरे विचार बदल गये। क्योंकि यदि उनका ऐसा ख़्याल होता, तो उनकी बातचीत से अवश्य ही प्रकट हो जाता। कब का पता चल जाता। कितनी बेतकुल्लुफ़ी है। अगर ऐसे ख्याल होते, तो उनका छिपाना असम्भव बात थी। कारण यह कि न तो उनका कोई दोस्त है, और न साथी, इसलिये उनका जो क्षण भी मेरे साथ बीतता है, वह उन्हें ग़नीमत जान पड़ता है। इससे अधिक कुछ नहीं।

जब अपना संतोष कर चुकी, तो मैंने कस कर एक ख़त मिस्टर मोहसिन को लिखा और साफ़-साफ़ लिखा कि इस दस्तावेज़ को बदलवाइये। उन्होंने आदमी से जवाब कहला दिया कि शाम को मिलूँगा तब बातचीत होगी।

शाम को वे आये, तो मैं एकदम फट पड़ी, जो मुँह में आया सुना डाला; परन्तु वे सुनते रहे और दाढ़ी कुरेदते रहे। उत्तर दिया भी तो बहुत थोड़े में। यानी कहने लगे—"तुम्हीं ने तो कहा था।"

मैंने बिगड़ कर कहा—"तो मैंने यह कहा था कि मेरे नाम से ख़रीद लेना।"

"तो फिर मैंने तो यही ठीक समझा।"

"आख़िर क्यों ठीक समझा!" मैंने बुरा मानते हुए कहा—"मिस्टर मोहसिन, इसके मानी यह हुए कि आप सारे सम्बन्ध तोड़ने पर तैयार हैं।"

"या इलाही!" उन्होंने भी तेज़ होकर कहा—"आख़िर मुसीबत क्या है! क्या तुम्हें शक है कि तुम मेरा रुपया मार लोगी! क्या तुम्हारा इरादा है आगे चल कर कह दोगी कि यह मकान मोहसिन का नहीं, मेरा है! कभी नहीं। फिर क्या मुसीबत है! मकान तुम्हें पसन्द था, सो मौजूद है। जब जी

चाहे रुपया अदा कर देना। काग़ज़ात मैं तुम्हारे हवाले कर दूँगा। इधर लाओ काग़ज़। नहीं तो यह लो काग़ज़ क़लम और लिखो जो कुछ मैं लिखवाऊँ।"

मैंने काग़ज़ क़लम लिया और पूछा—"क्या लिखूँ?"

वह बोले—"यह मकान, जो मेरे नाम रजिस्ट्री हुआ है, जो अमुक आदमी से सात हज़ार रुपए में ख़रीदा गया है, यह वास्तव में मैंने नहीं ख़रीदा; बल्कि मिस्टर मोहसिन ने ख़रीदा है और अपने रुपए से ख़रीदा है, अतः मकान उन्हीं का है। मेरा नाम रजिस्ट्री में केवल इसलिये छोड़ दिया गया है कि मकान मुझे पसन्द है और अगर कभी मेरे पास रुपया हुआ तो मैं इसी दाम में मिस्टर मोहसिन से ख़रीद लूँगी।"

यह इबारत लिखकर उन्होंने कहा—"दस्तख़त करो।" फिर स्वयं भी तसदीक़ कर दी और काग़ज़ तह करके जेब में रख लिया और मुझसे कहने लगे—"बस, अब तो ठीक है!"

मैंने कहा—"हाँ, यह ठीक है, इसमें कोई हर्ज नहीं, मगर फिर भी...."

बात काट कर बोले—"अब फिर भी वग़ैरह को छोड़ो, मामला साफ़ हो गया। काग़ज़ अपने पास रक्खो, चाहे मुझे दे दो। बल्कि अपने ही पास रहने दो। मेरे पास तुम्हारी यह तहरीर आ गई।"

मैं अब राज़ी हो गई और वे समझाने लगे—"तुम ऍंग्लो-इंडियन होकर और शिक्षित होकर इस तरह की बातें करती हो? जब तुम्हारा इरादा था, और मकान मौक़े से मिल रहा था तो मेरे नाम से ख़रीदारी करना फ़िज़ूल है। मकान मेरा है और तुम हर महीने किराया देती रहना।" फिर कहने लगे—"मकान चूँकि मेरा है इसलिए मैं इसमें क्यों न तरमीम (संशोधन) कराऊँ, बल्कि तुम्हारी सुविधा के अनुसार बनवा दूँ।"

मैंने कहा—"यह तो बहुत अच्छा है।" क्योंकि मकान वाला मरम्मत नहीं कराता था और बड़ा परेशान करता था।

अतएव दूसरे ही दिन मकान की मरम्मत और परिवर्द्धन का कार्य आरम्भ हो गया। अब उन्होंने अपने मकान की सजावट का काम शुरू कर दिया। सुन्दर और बहुमूल्य शीशे लगाये गये, ग़ुसलख़ाने और अन्य स्थानों पर टाइल के फ़र्श का प्रबन्ध कराया, बड़े-बड़े चीनी के हौज़ ग़ुसलख़ाने में फ़िट किये

जाने लगे। मैं कैसे बोलती पराये मकान के मामले में। फिर बड़ी-बड़ी क़ीमती तस्वीरें लगाई गईं और दस रुपया किराया बढ़ा देने पर यह निश्चय हुआ कि मैं अपना सब पुराना सामान नीलाम कर दूँ और स्टूल से लेकर मसहरी तक मकान मालिक की हो जाये। सौदा अच्छा था। मैंने मान लिया कि इस प्रकार नीलाम कर देने से कुछ इकट्ठी रक़म भी मिस्टर मोहसिन के क़र्ज़े में पहुँच जायगी। सारे मकान के लिये बिलकुल नया और बढ़िया फ़र्नीचर मँगा लिया गया। हर प्रकार की मेज़ें, आलमारियाँ, आईने आदि सब आ गये। जब सब होगया तो एक दिन मिस्टर मोहसिन आये और बोले कि दस रुपया किराया और बढ़ना चाहिये। मैंने कहा—"यह तो मेरी हैसियत से बाहर हो जायगा। आपसे किसने कहा था कि यह सब तरमीम कीजिये।"

मालूम हुआ कि मिस्टर मोहसिन मज़ाक़ कर रहे थे। पर मकान मेरा बस देखने योग्य हो गया था।

अब यहाँ मैं यह भी बता देना चाहती हूँ कि जनता न जाने मेरे और मोहसिन के बारे में क्या-क्या बेहूदा बातें बकती थी। पर मैंने कभी इस ओर ध्यान न दिया। न इसकी कोई आवश्यकता थी, क्योंकि इस तरह की वाहियात बातों पर ध्यान देना बेकार है।

(५)

एक दिन की बात है कि मैं एक रोगिणी को देखने चक्करवाली सड़क की ओर गई। जिन्होंने बुलाया था उनकी ही मोटर थी। मोटर तेज़ी से जा रही थी। रास्ते में ज़मीन पड़ती थी, जो मैंने जॉन्सन अस्पताल के लिये सोच रक्खी थी, मेरी दृष्टि उस पर पड़ जाना स्वाभाविक बात थी। शाम के कोई चार बजे का समय था। मैं उधर एक अरसे से नहीं गई थी। उसे देखकर मैं अवाक् रह गई। देखा कि सैकड़ों मज़दूर लगे हैं और एक शानदार इमारत नहीं, बल्कि इमारतों का सिलसिला बन रहा है, बल्कि ख़त्म के क़रीब है। मुझे इतना दुख हुआ मानो किसी ने सचमुच मेरी अपनी ज़मीन छीन ली हो। मेरे साथ जो आदमी था, उससे मैंने पूछा कि यह इमारतें कौन बनवा रहा है, तो उसने जवाब दिया कि शायद सरकारी अस्पताल बन रहा है। मैं इमारतों को ठीक से देख भी न सकी।

घर पर आई, तो मुझे इतना रंज था कि मैं कुछ कह नहीं सकती। मैंने एक ठण्डी साँस भरी, कि अफ़सोस यह सारा खेल रुपए का है। मैंने जो स्थान चुना था वह अस्पताल के लिये बड़ा उपयुक्त था। समझ में नहीं आता था कि यह अस्पताल कैसा बन रहा है। कुछ सुनाई भी न पड़ा था इस सम्बन्ध में।"

मैं इसी चिन्ता में बैठी थी कि मिस्टर महोसिन आ गये। मैं मालिश के लिये उठी, तो मेरे मलीन मुख को देख कर कारण पूछा। मैंने पहले तो चाहा कि टाल दूँ; किन्तु फिर मैंने बता दिया। वे कहने लगे कि तुम भी अजीब आदमी हो। तरकीब मैं बता सकता हूँ, करो न करो इसका तुम्हें अख्तियार है।"

मैंने कहा—"वह क्या ?"

बोले—"मुझसे उधार ले कर सब इमारतें वग़ैरह ख़रीद लो, फ़ीस में काटती रहना।"

मुझे एकदम से हँसी आई और कहा—"बहुत अच्छा, आप सरकार को लिख कर मुझे दिला दीजिये, मैं फ़ीस में आपका क़र्ज़ दे दूँगी।"

वह बोले—"तो क्या सचमुच दिला दूँ ?"

मैंने मुस्कराते हुए कहा—"और क्या ! लिखो बस, आज ही जाकर !"

"फिर अगर तुम राज़ी न हुईं तब ?"

मैंने कहा—"मुझसे तहरीर ले लो..."

"तहरीर और क़सम दोनों....लिखो एक तहरीर और खाओ क़सम तो मैं कल ही तुम्हें दिला दूँ।" हँस कर बोले—"लो क़लम काग़ज़।"

मैंने इस दिलचस्प दिल्लगी को निभाया। वे बोलते गये और मैं लिखती गई। मैंने बाइबिल और अपनी इज़्ज़त की क़सम खाकर लिखा कि मिस्टर मोहसिन मुझे यह अस्पताल अगर क़र्ज़े में दिला दें, तो मैं ख़ुशी से ले लूँगी और क़र्ज़ फ़ीस में कटता रहेगा।

यह लिख कर मैंने मिस्टर मोहसिन को दिया और उनकी दाढ़ी तथा प्रफुल्लित मुख देखकर मुझे जो हँसी आई है, तो मैं बेदम हो गई।

"माफ़ कीजियेगा मिस्टर मोहसिन।" मैंने कहा—'मुझे आज आपके इस 'क़र्ज़ और फ़ीस' के ऊपर इतनी हँसी आ रही है, कि मैं कह नहीं सकती।

अच्छा हो यदि आप मुझे कोई पूरा देश क़र्ज़ में दिला दें। उसकी क़ीमत फ़ीस में कटती रहेगी। अब मैंने सोच लिया है कि इनकार न करूँगी।"

"इनकार कैसे कर सकती हो!" वह बोले—"मेरे पास तहरीर है।"

मैं जल्दी से मालिश की बेगार टालने लगी। मैंने कहा—"चलो, आज उसी तरफ़ टहलने चलें, देखें कि कैसा अस्पताल बन रहा है।"

मोहसिन साहब ने पहले तो टाला, परन्तु जब मैंने आग्रह किया तो वे राज़ी हो गये।

(६)

हम दोनों वहाँ पहुँचे। एक ही निगाह डालने पर मुझे कुछ सन्देह-सा हुआ। दोनों बगले बिलकुल मेरी इच्छा के अनुसार बने थे। और इसके बाद मैं जिस इमारत और कमरे को देखती हूँ, वह सब मेरे बनवाये हुए नक़शे के अनुसार है। मैंने कहा—"मिस्टर मोहसिन, यह क्या मामला है!"

शाम हो चुकी थी, सब राज-मज़दूर जा चुके थे और वहाँ कोई नहीं था। मैं भौंचक्की-सी खड़ी थी।

मोहसिन ने कहा—"क्यों, इतना घबरा क्यों रही हो!"

"यह क्या मामला है!" मैंने कहा—"आपरेशन रूम, गैलरियाँ, डिस्पेन्सिग रूम वग़ैरह सब मेरे ही नक़शे के मुताबिक़ हैं।"

वह बोले—"तो आख़िर इसमें ताज्जुब की क्या बात है। कोई अपना नक़शा आपने कम्पनी से रजिस्टर्ड तो कराया नहीं था। अस्पतालों के नक़शे एक से होते हैं। जिस फ़र्म से आपने अपना नक़शा मँगाया होगा, उसी फ़र्म से इस अस्पताल का नक़शा भी आया होगा, यह तो कोई ताज्जुब की बात नहीं है।"

मैंने कहा—"मगर मेरा दिल तो बैठा जा रहा है। मैं तो सदमे से निढाल हुई जा रही हूँ कि हाय, मेरी तमन्नाओं का इस तरह ख़ून हो रहा है। मेरे........"

बात काट कर मिस्टर मोहसिन बोले—"अजीब आदमी हो तुम, आख़िर ले तो रही हो न तुम उधार! तुमको तो ख़ुश होना चाहिये कि ठीक-ठीक नक़शा मिल गया, इससे ज़्यादा क्या चाहती हो!"

मैंने ग़ौर से मिस्टर मोहसिन की ओर देखा। गम्भीरता के साथ दिल्लगी करना इस दाढ़ीदार आदमी को ख़ूब आता था। मैंने तेज़ होकर कहा—"भले मानुस, मेरे सारे ख़्वाब छिन्न-भिन्न हो गये और तुम्हें अपनी सूझी है। बड़े धन्नासेठ बनते हो, लाओ दिलाओ क़र्ज़ में यह अस्पताल। मैं तो दुख से मरी जा रही हूँ।"

वह बोले—"तो ले भी लो तुम, बस ले लो, अपना समझो, क़र्ज़ रहा। कल तुम्हें दिला दूँगा।"

"फ़िज़ूल वक़्त बरबाद करने से क्या फ़ायदा।" मैंने कहा—"मुझे सदमा हो रहा है और अब मैं इस जगह एक मिनट नहीं ठहर सकती।"

यह कह कर मैं चली और मिस्टर मोहसिन मेरे साथ हँसते हुये आये। उन्होंने बहुत रोका कि अच्छी तरह देख तो लो, पर मैंने सड़क पर आकर दम लिया।

हम दोनों साथ-साथ आये। मकान पर आकर मैंने चाय तैयार कराई। मिस्टर मोहसिन थोड़ी देर बातें करके चले गये, पर मुझे रात भर सदमा रहा।

दूसरे दिन मिस्टर मोहसिन आये, और मुझसे कहा कि घबराओ मत, अस्पताल जल्द ही तुम्हें उधार मिल जायगा। मैंने कहा कि अब यह मज़ाक़ छोड़ो। अतः यह मज़ाक ख़त्म हुआ। और मैंने इस अस्पताल का ज़िक्र तो बड़ी बात है, ख़याल तक छोड़ दिया। किसी से पूछा भी नहीं। बात आई गई हो गई और कुछ समय बाद हमको याद भी न रही।

इस बात को काफ़ी दिन हो चुके थे, परन्तु मिस्टर मोहसिन का इलाज अभी तक जारी था। एक दिन शाम को एक मोटर आकररु की और उसमें से मिस्टर मोहसिन उतरे। वे मुझसे प्रसन्न होकर बोले—"देखो, मोटर ली है।"

मैं मोटर देखने आई। बिलकुल नयी मोटर थी, कितनी सुन्दर थी। कहने लगे—"साढ़े तीन हज़ार में आज ही ली है।"

मैंने उसकी बहुत तारीफ़ की, तो मुस्करा कर बोले—"इसे ले लो उधार......फ़ीस में दाम चुका देना।"

मैंने भी हँसकर कहा—"ज़रूर।" फिर मैंने कहा—"जब तक इस पर घूमा न जाये, तब तक कैसे मालूम हो कि कैसी है।"

वह बोले—"इसीलिये तो लाया हूँ, आओ चलो न घूम आयें।

मैंने कहा—"बहुत ठीक।" और जल्दी से तैयार होकर उनके साथ मोटर में बैठ गई। ड्राइवर ने बिना यह पूछे कि कहाँ जाना है, मोटर को तेज़ी से छोड़ दिया।

मोटर पूरे वेग से चक्करवाली सड़क पर जा रही थी। अस्पताल के निकट आयी, तो मैंने अपनी कल्पना को मूर्त्तरूप में देखा। मिस्टर मोहसिन ने ड्राइवर को संकेत किया और मोटर अस्पताल के भीतर चली गयी। मिस्टर मोहसिन ने कहा—"एक बार तो इसको और देख लो।" मैं उतरी और अब मैंने उसको गौर से देखा। प्रत्येक कमरे का निरीक्षण किया। सफ़ाई होकर कलई हो चुकी थी, और अस्पताल बिलकुल तैयार था। मैंने मोहसिन साहब से कहा—"यह क्या मामला है, अब तक इस अस्पताल का कहीं जिक्र तक सुनने में नहीं आया।"

मोहसिन साहब ने कुछ और ही बात कही, वह यह कि बातचीत करके उन्होंने सब मामला तय कर लिया है। इतने में एक चौकीदार बराबर से आया और उसने झुक कर बड़े आदर के साथ सलाम किया। मैंने उससे पूछा—"तुम किसके नौकर हो?"

इसके जवाब में चौकीदार ने कहा—"हुज़ूर आप ही का नौकर हूँ।"

उस चौकीदार की शिष्टता से प्रसन्न हो, मैंने फिर कहा—"मगर तुम नौकर किसके हो, यह अस्पताल किसका है?"

चौकीदार ने उसी प्रकार आदरपूर्वक कहा—"हुज़ूर मैं आप ही का नौकर हूँ और यह सब आप ही का है।"

"बेतमीज़।" मैंने एकदम बिगड़ कर कहा—"गुस्ताख़, तुम मज़ाक़ करते हो! हम पूछते हैं, तुम किसके नौकर हो?"

चौकीदार घबरा गया और हाथ जोड़ कर मिस्टर मोहसिन की ओर संकेत करके बोला—"हुज़ूर, मालिक आपके साथ ही हैं। अस्पताल भी इन्हीं का और मैं भी इन्हीं का। और मैं तो हुज़ूर आप सब का नमक खाने-वाला हूँ।"

मैंने मिस्टर मोहसिन की ओर देखा, और उन्होंने सामनेवाले पेड़ की

ओर। एकदम से सारी बातें बिजली बन कर मेरे सामने कौंध गईं। मैं इतना अधिक घबराई कि बता नहीं सकती। मिस्टर मोहसिन से बड़ी कठिनाई से मैंने अपने सन्देह की पुष्टि की।

आँखें नीची करके मैंने मिस्टर मोहसिन से कहा—"आपने मुझसे दो दिन के लिये नक़्शा लिया था। यह आपने बनवाया है!"

"आप क़र्ज़ ले लीजियेगा।" मिस्टर मोहसिन ने अपनी दाढ़ी कुरेदते हुए कहा—"फ़ीस में अदा होता रहेगा।"

"मिस्टर मोहसिन!" मैंने बिगड़ कर कहा—"इससे आपका क्या मतलब है!...क्या आपने मुझे ज़लील करने का इरादा किया है?...आपने आख़िर क्यों बनवाया? कितना रुपया इसमें लगा है?"

"बयालीस हज़ार।" मिस्टर मोहसिन बोले।

"बयालीस हज़ार!" मैंने चोट खाकर कहा, "फिर अब....मैं तो हरगिज़ इसको न लूँगी!"

"मैं ख़ुद डाक्टरी पढ़नेवाला हूँ।" मिस्टर मोहसिन ने कहा—"और फिर आप ले लीजिये न इसको उधार...आप तो वादा कर चुकी हैं....वह क़सम और तहरीर!"

मैं यह सुन कर बेक़ाबू हो गई। सीधी एकदम मोटर में पहुँची। मिस्टर मोहसिन भी आकर बैठ गये। मैंने अपना मुँह दूसरी ओर कर लिया और रूमाल मुट्ठी में लेकर मुँह पर रख कर दूसरी ओर देखने लगी। मोटर रवाना हो गयी।

"क़र्ज़ ले लीजिये, सब फ़ीस में कटता रहेगा।" मिस्टर मोहसिन ने कहा। परन्तु मैं चुप रही—बिलकुल चुप। मोटर मकान के सामने रुकी और मैं बिना इसका इन्तज़ार किये कि मिस्टर मोहसिन उतर कर मोटर की खिड़की खोलें, तेज़ी से स्वयं उतर कर ड्राइंग-रूम में चली गई। आह! क्या बताऊँ कि मुझे कितना दुख हुआ था। मैं सोफ़े पर कोने में मुँह देकर बैठ गई। मैंने बहुत रोका अपने को; परन्तु न रोक सकी और रूमाल से मुँह छिपा कर सिसकने लगी।

सहसा कुछ आहट सुन कर मैंने दरवाज़े की ओर देखा। मिस्टर मोह-

सिन ने अन्दर प्रवेश किया और सामने कुरसी पर बैठ कर मुझे ध्यान से देखने लगे। मैंने साहस कर और कुछ क्रुद्ध होकर मिस्टर मोहसिन से कहा—"आपने मेरे साथ बड़ी ज़्यादती की। आपने अस्पताल क्यों बनवाया?"

वह बोले—"मेरी समझ में हर आदमी को यह हक़ है कि अपनी ज़मीन पर उसका जी चाहे अस्पताल बनवाये या पागलख़ाना; लेकिन मैंने इस ख़याल से बनवाया कि आपको क़र्ज़ दे दूँगा। अब तक आपको क़र्ज़ देता चला आया हूँ कि मुझसे आपसे दुश्मनी हो जाय।" "क़र्ज़ मिक़राज़े मोहब्बत अस्त।" और मैं यही राह देख रहा था कि वह कैंची जल्दी चले। अब मैं जाता हूँ। कल सब काग़ज़ यानी दस्तावेज़ भेज दूँगा और आप बयालीस हज़ार रुपए की रसीद लिख दीजियेगा कि मैंने मोहसिन से यह रुपया क़र्ज़ लिया है और फ़ीस में अदा कर दूँगा। अब मैं जाता हूँ....पर हाँ, कभी आपने यह भी सोचा कि वह बुड्ढा झूठा निकल गया, बेईमान।"

"कौन बुड्ढा?" मैंने पूछा।

"वही।" उन्होंने उस सुन्दर चौखटे की ओर संकेत किया, जिस पर लिखा था—"क़र्ज़ मिक़राज़े मोहब्बत अस्त" अर्थात् क़र्ज़ प्रेम को काटने की कैंची है।

फिर बोले—"उसने ठग लिया हम दोनों को...अच्छा, मैं जाता हूँ...ख़ुदा हाफ़िज़!"

(७)

दूसरे दिन की बात है कि हम दोनों ने मिल कर उस चौखटे को तोड़ डाला और फिर कुछ ऐसे कारण आ पड़े कि उस बुड्ढे को दूसरे चौखटे का आर्डर देकर एक नया चौखटा बनवाना पड़ा।

अब मिस्टर मोहसिन से कोई कारण पूछता है, तो वे मेरी ओर अँगुली उठा कर कहते हैं, "इनसे पूछो।" वैसे तो यह चौखटा भी बिलकुल वही है। केवल 'मिक़राज़' (कैंची) शब्द के स्थान पर इसमें 'बुनियाद' (आधार) लिखा है।

हमारा कहानी साहित्य

केवल क्वर इलाहाबाद ब्लाक वर्क्स लि०, इलाहाबाद, में छपा।